विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

chakladar

रामकृष्ण मिशन

वर्ष १६
अंक ४

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर – नवम्बर – दिसम्बर

★ १९७८ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी शंकरचैतन्य

वार्षिक ५)

एक प्रति १।।)

आजीवन सदस्यता शुल्क - १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२००१ (म. प्र)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

—:०:—

कवर चित्र परिचय — **स्वामी विवेकानन्द**

मुद्रणस्थल : संजीव प्रिन्टिंग प्रेस, नागपुर

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १६] अक्तूबर—नवम्बर—दिसम्बर [अंक ४

* १९७८ *

अपना आप

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरं योऽसौ समुज्जृम्भते
प्रत्यग्रूपतया सदाहमहमित्यन्तःस्फुरन्नैकधा ।
नानाकारविकारभागिन इमान्पश्यन्नहंधीमुखान्
नित्यानन्दचिदात्मना स्फुरति तं विद्धि स्वमेतं हृदि ॥

——जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति——इन तीनों अवस्थाओं में जो अन्तःकरण के भीतर सदा अहं-अहं (मैं-मैं) रूप से अनेक प्रकार स्फुरित होता हुआ प्रत्यग्रूप से स्पष्टतया प्रकाशित होता है और अहंकार से लेकर प्रकृति के इन नाना विकारों को साक्षीरूप से देखता हुआ नित्य चिदानन्दरूप से स्फुरित होता है, उसी को तू अपने अन्तःकरण में विराजमान अपना आप समझ ।

——विवेकचूड़ामणि, २१९

अग्नि-मंत्र

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

द्वारा श्री ई. टी. स्टर्डी,
हाई व्यू, कैवरशम, रीडिंग।
४ अक्तूबर, १८९५

अभिन्नहृदय,

तुम जानते हो कि अब मैं इँग्लैण्ड में हूँ। करीब एक महीना यहाँ रहकर फिर अमेरिका चला जाऊँगा। अगली ग्रीष्म ऋतु में फिर इँग्लैण्ड आ जाऊँगा। इस समय इँग्लैण्ड में विशेष कुछ होने की आशा नहीं है, परन्तु प्रभु सर्वशक्तिशाली हैं। धीरे धीरे देखा जायगा।

इसके पहले शरत् के आने के लिए रुपये भेजे हैं तथा पत्र भी लिखा है। शरत् या शशि, इन दोनों में से किसी एक को भेजने का बन्दोबस्त करना। यदि शशि पूर्णरूपेण स्वस्थ हो गया है, तो उसे भेजना। शीतप्रधान देश में चर्मरोग बढ़ता नहीं है-- यहाँ अत्यन्त ठण्ड के कारण रोग दूर हो जायगा। नहीं तो शरत् को भेजना।

इस समय × का आना असम्भव है। अर्थात् रुपये स्टर्डी साहब के हैं, वे जिस तरह का आदमी चाहते हैं वैसा ही लाना होगा। श्री स्टर्डी ने मुझसे मंत्र-दीक्षा ली है; ये बहुत उद्यमी और सज्जन व्यक्ति हैं। थियोसॉफी के झमेले में पड़कर वृथा समय नष्ट

किया, इसलिए इन्हें बड़ा अफसोस है।

पहले तो ऐसे आदमी की जरूरत है, जिसे अंग्रेजी और संस्कृत का अच्छा ज्ञान हो। × यहाँ आने पर जल्दी अंग्रेजी सीख लेगा, यह सच है; परन्तु मैं यहाँ सीखने के लिए मनुष्य अभी नहीं बुला सकता; जो शिक्षा दे सकें, पहले उन्हीं की आवश्यकता है। दूसरी बात यह है कि जो सम्पत्ति और विपत्ति, दोनों में मुझे न छोड़े, ऐसे ही मनुष्य पर मुझे विश्वास है।...बड़ा ही विश्वासी मनष्य होना चाहिए। फिर नींव डाली जा चुकने पर, जिसकी जितनी इच्छा हो, शोर-गुल मचाये, कुछ नहीं। × ने कोई बुद्धिमानी नहीं दिखायी, जब वह व्यर्थ के हो-हल्ला एवं आवारा लोगों की बातों में आ गया। दादा, माना कि रामकृष्ण परमहंस एक नाचीज थे, माना कि उनके आश्रय में जाना बड़ी भूल का काम हुआ, परन्तु अब उपाय क्या है? केवल यही नहीं कि एक जन्म मुफ्त ही बीता, पर क्या मर्द की बात भी टलती है? क्या दस पति भी होते हैं? तुम लोग चाहे जिसके दल में जाओ, मेरी ओर से कोई रुकावट नहीं--जरा भी नहीं। परन्तु दुनिया भर में घूमकर देखा, उनकी परिधि के बाहर और सभी जगह मन में कुछ और कार्य में कुछ और है। जो उनके हैं, उन पर मेरा पूर्ण प्रेम और पूर्ण विश्वास है। क्या करूँ? मुझे एकांगी कहो, तो कह लेना, परन्तु यही मेरी असल बात है। जिसने

श्रीरामकृष्ण को आत्मसमर्पण किया है, उसके पैरों में अगर काँटा भी चुभता है, तो वह मेरे हाड़ों में बेधता है; यों तो मैं सभी को प्यार करता हूँ। मेरी तरह असाम्प्रदायिक संसार में बिरला ही कोई होगा, परन्तु उतना ही मेरा हठ है, माफ करना। उनकी दुहाई नहीं, तो और किसकी दुहाई दूं। अगले जन्म में कोई बड़ा गुरु देख लिया जायगा, इस जन्म में तो इस शरीर को सदा के लिए उन्हीं अनपढ़ ब्राह्मण ने खरीद लिया है।

मन की बात खुलकर कही दादा, गुस्सा न करना, मैं प्रार्थना करता हूँ। मैं तुम लोगों का गुलाम हूँ, जब तक तुम उनके गुलाम हो, बाल भर इसके बाहर हुए कि जैसे तुम, वैसे ही मैं।...देखते हो, देश में और विदेश में जितने भी मत-मतान्तर हो सकते हैं, उन सबको उन्होंने पहले ही से निगलकर पेट मे डाल लिया है दादा--मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।[1] आज हो या कल, वे सब तुम लोगों के अंग में मिल जायँगे। हाय रे अल्प विश्वास! उनकी कृपा से ब्रह्माण्ड गोष्पदायते।[2]

नमकहराम न होना, इस पाप का प्रायश्चित्त

१. मेरे द्वारा ये सब पहले ही से हत हो चुके हैं, हे अर्जुन, तुम्हें केवल निमित्त मात्र होना है। गीता, ११/३३।

२. ब्रह्माण्ड गोष्पद हो जाता है।

नहीं है। नाम-यश, सुकर्म---यज्जुहोषि यत्तपस्यसि यदश्नासि आदि 'जो कुछ हवन देते हो, जो कुछ तप के फलस्वरूप प्राप्त करते हो, जो कुछ अन्नरूप में ग्रहण करते हो'---सब उनके चरणों में समर्पित कर दो। पृथ्वी पर और क्या है, जो हमें चाहिए ? उन्होंने हमें शरण दे दी और क्या चाहिए ? भक्ति स्वयं फलस्वरूपा है---और क्या चाहिए ? हे भाई, जिन्होंने खिला-पिलाकर, विद्या-बुद्धि देकर मनुष्य बनाया, जिन्होंने हमारी आत्मा की आँखें खोल दीं, जिनके रूप में हमने रात-दिन सजीव ईश्वर का दर्शन किया, जिनकी पवित्रता, प्रेम और ऐश्वर्य का राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, चैतन्य आदि में कण मात्र प्रकाश है, उनके निकट नमकहरामी!!! बुद्ध, कृष्ण आदि का तीन-चौथाई हिस्सा कपोल-कल्पना के सिवा और क्या है ?...अरे, तुम ऐसे दयालु देव की दया भूलते हो ?...कृष्ण, ईसा पैदा हुए थे या नहीं, इसका कोई प्रमाण नहीं है। और साक्षात् भगवान् को देखकर भी तुम्हें कभी कभी मतिभ्रम होता है ! तुम लोगों के जीवन को धिक्कार है ! मैं और क्या कहूँ ? देश-विदेश में नास्तिक-पाखण्डी भी उनकी मूर्ति की पूजा करते हैं, और तुम लोगों को समय समय पर मतिभ्रम होता है !!! तुम्हारे जैसे लाखों वे अपने नि:श्वास से गढ़ लेंगे। तुम लोगों का जन्म धन्य है, कुल धन्य है, देश धन्य है कि उनके पैरों की धूलि

मिली। मैं क्या करूँ, मुझे लाचार होकर ऐसा कट्टर होना पड़ रहा है। मुझे तो उनके जनों को छोड़ और कहीं पवित्रता और निःस्वार्थता देखने को नहीं मिलती। सभी जगह 'मुँह में राम, बगल में छुरी' है—सिर्फ उनके जनों को छोड़कर। वे रक्षा कर रहे हैं, यह मैं देख जो रहा हूँ। अरे पागल, परी जैसी औरतें, लाखों रुपये, ये सब मेरे लिए तुच्छ हो रहे हैं, यह क्या मेरे बल पर ?—या वे रक्षा कर रहे हैं, इसलिए ! उनके सिवाय दूसरे किसी को एक भी रुपया या स्त्री के बारे में मैं विश्वास जो नहीं कर सकता। उन पर जिसका विश्वास नहीं है और परमाराध्या माता जी पर जिसकी भक्ति नहीं है, उसका कहीं कुछ भी न होगा—यह सीधी भाषा में कह दिया, याद रखना।

. . .हरमोहन ने अपनी दुःखपूर्ण अवस्था का हाल लिखा है और शीघ्र ही जगह छोड़ने को लिखा है। उसने कुछ व्याख्यान देने के लिए प्रार्थना की है, परन्तु व्याख्यानादि अभी कुछ नहीं है, परन्तु कुछ रुपये अभी टेंट में हैं, उसे दूँगा, डरने की कोई बात नहीं। पत्र पाते ही भेज दूँगा; परन्तु सन्देह हो रहा है कि मेरे (पहले के) रुपये बीच में ही मारे गये, इसलिए फिर नहीं भेजे। दूसरे, किस पते पर भेजूँ, वह भी नहीं मालूम। मद्रासवाले, जान पड़ता है, पत्रिका न निकाल सके। हिन्दू जाति में व्यवहार-

कुशलता बिल्कुल ही नहीं है। जिस समय जिस काम के लिए प्रतिज्ञा करो, ठीक उसी समय उसे करना ही चाहिए, नहीं तो लोगों का विश्वास उठ जाता है। रुपये-पैसे की बात में पत्र मिलते ही अति शीघ्र उत्तर देना चाहिए।... यदि मास्टर महाशय राजी हों, तो उन्हें मेरा कलकत्ते का एजेण्ट होने के लिए कहना; उन पर मेरा पूर्ण विश्वास है और वे इन विषयों को अच्छी तरह समझते हैं। लड़कपन और जल्दबाजी का काम नहीं है। उन्हें कोई ऐसा केन्द्र ठीक करने के लिए कहना, जो पता क्षण क्षण में न बदले और जहाँ मैं कलकत्ते के सभी पत्र भेज सकूँ।...

किमधिकमिति,

नरेन्द्र

•

समाधि की पात्रता

मथुरानाथ विश्वास रानी रासमणि के जामाता थे। रानी ने दक्षिणेश्वर का कालीमन्दिर बनवाया था। मथुरबाबू श्रीरामकृष्णदेव पर इष्टवत् श्रद्धा करते और उन्हें 'बाबा' कहकर पुकारते। उनका श्रीरामकृष्ण के साथ बड़ा अनोखा और मधुर सम्बन्ध था। साधनाकाल में श्रीरामकृष्णदेव को किसी वस्तु की आवश्यकता होने पर उनके यह कहते ही कि 'मुझे अमुक वस्तु चाहिए' मथुरबाबू वह वस्तु उनके पास तुरन्त हाजिर कर देते थे। श्रीरामकृष्ण उन्हें अपना 'रसददार' कहते। मथुरबाबू उनके कितने निकट थें यह तथ्य इसी से प्रकट होता है कि समाधिकाल में अथवा और किसी समय श्रीरामकृष्ण को जो दर्शन होते थे या उनके मन में जो भाव उत्पन्न होते थे, उन सबकी चर्चा वे प्रथम मथुरबाबू से किया करते थे और 'यह ऐसा क्यों हुआ ? इस सम्बन्ध में तुम्हारी क्या राय है ?' इस प्रकार उनसे पूछते थे। उनकी सम्पत्ति का सद्व्यय कैसे होगा, देवता की सम्पत्ति देवसेवा और साधु-सन्तों की ही सेवा में लगकर उन्हें उसका पुण्य कैसे प्राप्त हो——इन बातों की ओर श्रीरामकृष्ण सदा ध्यान रखते थे।

वैसे थे तो मथुरबाबू पूरी तरह संसारी, पर श्रीरामकृष्ण की दिव्य संगत में निरन्तर रहते हुए

उनकी भावसमाधि के असीम आनन्द को देखकर उन्हें भी एक बार यह इच्छा हो गयी कि देखें, यह है क्या बात। उन्हें लगा कि एक बार इसका अनुभव लेना ही चाहिए। उनकी दृढ़ धारणा थी कि 'बाबा के मन में बात ला देने से वे चाहे जैसा कर सकते हैं।' बस, क्या था, मथुरबाबू के मन में यह बात आते ही उन्होंने श्रीरामकृष्ण के पास हठ पकड़ा कि "बाबा, तुम मुझे भावसमाधि लगा दो।" ऐसे प्रसंगों पर श्रीरामकृष्ण का उत्तर निश्चित रहता था। वे कहते, "अरे बाबा, ऐसी जल्दी करने से कैसे बनेगा? समय आने पर सब कुछ हो जाएगा। क्या बीज बोते ही वृक्ष होकर उसका फल खाने को मिल जाता है? क्यों भाई! तेरा सब कुछ ठीक है, प्रपंच और परमार्थ दोनों ही चल रहे हैं। तू समाधि में रहने लगेगा, तो फिर तेरा प्रपंच कैसे चलेगा? यदि तू समाधि में ही रहने लगा, तो तेरा मन प्रपंच में नहीं लग सकेगा। तो फिर तेरी सब सम्पत्ति की क्या दशा होगी? इसके लिए तूने क्या सोचा है?"

पर उस दिन यह सब कौन सुनता है! मथुर-बाबू नें तो हठ ही पकड़ लिया था। श्रीरामकृष्ण ने अपने इस दाँव को विफल होते देख दूसरा दाँव डाला। वे बोले, "भक्तों की इच्छा क्या ईश्वर का ऐश्वर्य देखने की होती है? उन्हें तो प्रत्यक्ष सेवा करने की इच्छा रहा करती है। देखने और सुनने से तो ईश्वर

के ऐश्वर्य-ज्ञान से भय उत्पन्न होता है, जिससे प्रेम में कमी हो जाती है। सुनो--श्रीकृष्णजी के मथुरा चले जाने के बाद गोपियाँ विरह से व्याकुल हो उठीं। श्रीकृष्ण ने उद्धव को गोपियों के पास उन्हें समझाने के लिए भेजा। उद्धव थे बड़े ज्ञानी। उन्हें वृन्दावन का वात्सल्यभाव समझ में नहीं आता था। श्रीकृष्णजी ने उनको इसी वात्सल्यभाव को समझने और शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा था। उद्धव वृन्दावन में जाकर गोपियों को समझाने लगे, 'तुम सब इस प्रकार कृष्ण-कृष्ण क्यों कर रही हो? कृष्ण तो प्रत्यक्ष भगवान् हैं और सर्वव्यापी हैं, यह बात तो तुम्हें मालूम है न? तो फिर वे मथुरा में हैं और वृन्दावन में नहीं हैं, ऐसा क्यों समझती हो? अतएव इस तरह हताश न होकर आँखें मूँदकर ध्यान करो तो तुम्हें दीख पड़ेगा कि तुम्हारे हृदय में ही साक्षात् नवनीरदश्याम मुरलीधर वनमाली सर्वदा विराजमान हैं।' --आदि आदि। यह सुनकर गोपियाँ कहने लगीं, 'उद्धव, तुम कृष्ण के सखा और ज्ञानी होकर हमें यह क्या सिखा रहे हो? हमने क्या उसे ध्यान और जप-तप करके देखा है? अरे! हमने जिसे साक्षात् देखा, जिसको खिलाया-पिलाया, जिसके साथ क्रीड़ा की और जिसका शृंगार किया, उसका क्या अब ध्यान करें? यह ध्यान और जप-तप अब हमसे नहीं बन सकता। अरे! जिस मन के द्वारा ध्यान इत्यादि करने को कह रहे हो, उस

मन की मालिक यदि हम होतीं, तो अलग बात थी। वह मन तो श्रीकृष्णचन्द्रजी के पादपद्मों में कभी का समर्पित हो चुका है। हमारा कहने योग्य क्या अब हमारे पास कुछ भी शेष रह गया है?' यह सब सुनकर उद्धव स्तम्भित रह गये और उन्हें मालूम हो गया कि गोपियों का कृष्णप्रेम क्या है और उसका कितना गम्भीर स्वरूप है। उन गोपियों को गुरु मान-कर उद्धव ने प्रणाम किया और मथुरा नगरी की राह ली। इसी पर से ज्ञात होता है कि जो सच्चा भक्त है, वह क्या भगवान् का ऐश्वर्य देखना चाहता है? उनकी सेवा में ही उसे परमानन्द प्राप्त है। देखने सुनने में उसका इतना ध्यान नहीं रहता, क्योंकि उससे उसके भाव की हानि होती है।"

इस पर भी जब मथुरबाबू से पिण्ड नहीं छूटा, तब उन्होंने एक नयी युक्ति निकाली। वे बोले, "मैं तो, भाई, और अधिक नहीं समझता। माता से कहकर देखता हूँ, फिर उसको जो उचित दिखेगा, वैसा वह करेगी।"

आज इस संवाद को कुछ दिन बीत चुके हैं। मथुरबाबू को अकस्मात् भावसमाधि प्राप्त हो गयी है। आज उन्होंने श्रीरामकृष्ण को बुला भेजा है। श्रीरामकृष्णदेव कहते थे, "मुझे बुलाने भेजा। मैं जाकर देखता हूँ तो वह ऐसा दिखा मानो मनुष्य ही न हो! आँखें लाल थीं और उनमें से लगातार

अश्रुधारा बह रही थी। ईश्वर की बातें करते करते और रोते रोते वह भीग गया था। उसका वक्ष:स्थल थर थर काँप रहा था। मुझे देखते ही मेरे पैरों को जोर से पकड़कर छाती से लगा लिया और कहने लगा, 'बाबा ! बड़ा घात हुआ। आज तीन दिन से यह अवस्था है ! प्रयत्न करने पर भी संसार की ओर मन नहीं लगता। सब गोलमाल हो गया है। तुम्हारा भाव तुम्हीं को फले। मुझसे तो यह सहन नहीं होता।' मैंने कहा, 'क्यों भाई ? अब कैसे ? तूने ही तो कहा था कि मुझे भाव चाहिए।' तब उसने कहा, 'मैंने कहा था जरूर और मैं आनन्द में भी हूँ। पर उस आनन्द का क्या करना है ? इधर सब नष्ट हो रहा है न ? बाबा ! मुझे यह भाव नहीं चाहिए; अपना भाव आप ही वापस ले जाइए।' तब तो मुझे हँसी आयी और मैंने कहा, 'तुझको तो मैंने यह बात पहले ही बतला दी थी।' उसने कहा, 'बाबा ! हाँ, सब सच है; पर उस समय ऐसा किसे मालूम था कि यह किसी भूत के समान सिर पर सवार हो जायगा और जैसा नचाएगा वैसा चौबीसों घण्टे नाचना पड़ेगा ? अब तो इच्छा होने पर भी कुछ करते नहीं बनता।' तदुपरान्त उसकी छाती पर कुछ देर हाथ फेरने से उसका वह भाव शान्त हुआ।"

●

श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

एक शिष्य प्रायः ही माँ के घर नाना प्रकार की चीजें लाया करता। इन सब वस्तुओं के संग्रह में उसे पर्याप्त श्रम करना पड़ता, दूसरों के सामने हाथ भी फैलाना पड़ता। उसके मित्रों में से कोई कोई यह पसन्द न करते। वे जानते थे कि माँ को कोई यह सब पसन्द नहीं है, वे तो अति अल्प ही ग्रहण करती हैं, बाकी अधिकांश दूसरे लोग पाते हैं। इसलिए वे लोग कटाक्ष करने से भी नहीं चूकते थे। पर शिष्य था कि समय समय पर माँ को खिलाने के लिए अच्छी अच्छी चीजें तैयार करके, करा के ले जाता। माँ प्रसन्न होतीं। ठाकुर को भोग चढ़ा सन्तानों को ही पेट भरकर प्रसाद खिलातीं, अपने मुख से थोड़ा स्पर्श भर कर लेतीं और बड़ी प्रशंसा करतीं। मित्रों की आलोचना से भले ही शिष्य अपने उद्यम से विरत नहीं हुआ, तथापि लगता है मन में कुछ क्षोभ तो अवश्य हुआ था। एक दिन माँ के घर वह चीजें ले गया। उपस्थित जनों में से एक उसे इस प्रकार परिश्रम और कष्ट करके हरदम इतनी चीजें ढोकर लाते ले जाते देख दुःख प्रकट करते हुए कहने लगा, "इतना कष्ट क्यों करते हैं ?" पर माँ ने उसका पक्ष न लेते हुए शिष्य की ओर करुणापूर्ण नेत्रों से देखा और भावविगलित

स्वर से कहा, "भक्त यदि न दे, तो भगवान् को कौन देगा, बेटा ?" शिष्य का हृदय अतीव पुलकित हो उठा और वह विभिन्न सामग्री ले पहले की अपेक्षा अधिक माँ के पास आने जाने लगा। किन्तु कुछ ही दिन बाद एक बड़ी मुसीबत आ खड़ी हुई। उसने माँ को खिलाने के लिए एक भक्त की सहायता से खूब सुगन्धित बारीक चावल बहुत दूर से मँगवाकर इकट्ठा किया और एक भक्तिमती महिला के द्वारा खूब अच्छा 'पीठा' * तैयार करवाया। अपराह्न में जब वह यह सब लेकर रवाना हुआ, तो एक ब्राह्मण भक्त ने बताया कि माँ विधवा ब्राह्मणी हैं, नियम-आचार पूर्वक रहती हैं, वे रात को चावल की बनी चीज मुँह में नहीं देंगी। शिष्य के तो सिर पर मानो वज्रपात हो गया, उसकी आँखों में अँधेरा भर गया। वह विमर्ष हो सोच-विचार करने लगा। दूसरे लोगों ने भी कहा कि न ले जाना ही ठीक होगा; स्वयं को तकलीफ, माँ के मन को भी दुःख। बहुत सोच-विचारकर शिष्य ने तय किया कि माँ के लिए तैयार की गयी चीजों को माँ के ही पास ले जाऊँ, वे जो इच्छा हो करेंगी। वह चिन्तित और दुःखित हृदय से 'पीठा' लेकर सात मील रास्ता चलकर सन्ध्या के पूर्व जयरामवाटी आ पहुँचा और माँ के पास वह सब सामग्री रखकर उसने

* चावल, दाल, पनीर और नारियल के मेल से बना एक बंगाली व्यंजन।

डरते डरते अपने हृदय की अभिलाषा प्रकट की। माँ ने शान्तभाव से सब सुना। शिष्य ने अश्रुभरे लोचनों से माँ को बताया कि उसकी बहुत दिनों से साध रही है कि माँ यह 'पीठा' अपने मुंह में दें। माँ सहर्ष बोलीं, "बेटा! मुँह में जरूर दूंगी। तुम इतनी दूर से यह सब बोहकर लाये, कितने कष्ट से तैयार करवाया, एक ने कितनी दूर से तकलीफ उठाकर भेजा। रात में ठाकुर को भोग लगाकर मुँह में दूंगी। तुम इसके लिए चिन्ता न करो।" तत्पश्चात् अन्य एक उपस्थित शिष्य को लक्ष्य करके वे मुसकराकर बोलीं, "सन्तानों के लिए मेरा कोई नियम-कानून ठीक नहीं रहता।" शिष्यों के हृदय आनन्द से भर उठे। रात्रि में उन्होंने भरपेट पीठे का प्रसाद पाया, माँ ने पेट भरकर खिलाया। सन्तान का खाना ही माँ का खाना है--माँ भी सन्तान के लिए ही खाती है।

एक शिष्य का भानुबुआ से बहुत लगाव है। बुआ माँ के शिष्य-बेटों को 'दादा' कहकर पुकारतीं। वे तो माँ की बुआ थीं, अत: माँ के लड़के उनके दुलारे 'लाती' थे। (उस अंचल के लोग 'न' का उच्चारण 'ल' करते हैं)। इस लाती को बुआ चुप-चुप सीख दे रही हैं, "लड़के लोग माँ के पैरों की छाप लेते हैं, तुम भी व्यवस्था कर लेना।" शिष्य ने माँ को पकड़ा, माँ ने भी सम्मति दे दी। तदनुसार कुछ दिनों के बाद वह एक शीशी में लाल रंग और कुछ सादे

रूमाल लेकर आया और माँ से अनुरोध किया। बड़े दिन की छुट्टियाँ लगने ही वाली थीं। माँ ने शिष्य को समझाते हुए कहा, "देखो बेटे! बड़े दिन की छुट्टियाँ करीब हैं, बहुत से लोग आएँगे, पैर में रंग लगा देख वे क्या सोचेंगे? तुम यह सब मेरे पास रख जाओ। कुछ दिन बाद सुविधा होते ही मैं छाप निकलवाकर रखूंगी।" फिर मृदु हास्य के साथ अपने आप से कहने लगीं, "लड़के प्रणाम करने आएँगे और पैर की ओर देखकर सोचेंगे--माँ ने महावर रचा है!" शिष्य रंग की शीशी और रूमाल माँ के हाथ में दे निश्चिन्त हुआ। कुछ दिन बीत गये। शिष्य को इस घटना का विशेष स्मरण नहीं रहा। एक दिन आकर, दोपहर में प्रसाद ले, अपराह्न में माँ को प्रणाम कर उनसे विदा ले वह जाने के लिए बाहर निकला। माँ उस समय बड़े मामा के घर रहती थीं। शिष्य ने थोड़ा आगे जाकर देखा कि माँ पीछे पीछे आ रही हैं। शिष्य ने सोचा कि शायद वे घाट पर जाएँगी। वह बाजू हटकर माँ की ओर मुँह करके खड़ा हो गया। माँ मृदु स्वर में हँसते हुए बोलीं, "बेटा!" वे सदर दरवाजे की आड़ में खड़ी हो जिससे कि कोई देख न पाए, अपनी साड़ी के भीतर से एक छोटा पुड़ा निकालकर शिष्य के हाथ में देते हुए बोलीं, "बेटा, लो अपनी चीज।" शिष्य की छाती धड़क उठी, वह समझ नहीं सका, पुड़े को खोलकर उसने

अचरज से देखा—उसमें उसकी वही अभिलषित वस्तु, चिर पवित्र, पैर की छाप है ! प्राण शीतल हुए, शिष्य ने आनन्द से उसे माथे से लगाकर हृदय से चिपका लिया। उसने माँ को प्रणाम किया, माँ प्रसन्नमुख उसे आशीर्वाद दे घर लौटीं। उस समय माँ के घर के दरवाजे पर कोई लोग थे, इसीलिए सबके सामने माँ ने वह पुड़ा बाहर नहीं निकाला। उन्होंने छिपाकर बेटे के हाथ उसकी प्रिय अभिलषित वस्तु दी। शिष्य ने बाद में सुना कि माँ ने नलिनी-दीदी के द्वारा छाप लगवायी थी। एक दिन नलिनी-दीदी ने शिष्य को झाड़ते हुए कहा था, "वह आप कैसा रंग लाये थे ? खून-खराबी, लोग क्या कहते! तभी तो महावर घसकर रंग बनाना पड़ा था !" पर बेटा तो पदचिह्न पाकर परम पुलकित था, दीदी की भर्त्सना उसे मीठी ही लगी। उसके मन में उठा —"अब और भुलाने से नहीं भूलूँगा, माँ, इन लाल चरणों को मैंने देख लिया है।"

माँ की हथेलियाँ रक्ताभ थीं, बहुतों को देखने का सुअवसर मिला था। तलवे भी लाल थे—ठीक मानो स्थलपद्म की आभा। उनके स्वस्थ रहते उनकी कृपा से किसी किसी के भाग्य से दर्शन मिला था। सिर के केश घने और लम्बे थे, चमकता काला रंग, मानो रेशम के पतले धागे के समान, आगे का भाग थोड़ा टेढ़ा और घुंघराला। सुगठित मुखमण्डल पर सुदीर्घ

नासिका सामने की ओर सचमुच तिल के फूल के समान शोभायमान थी। उनके नेत्र प्रशान्त, स्थिर और करुणा से भरे थे, जो सभी के अन्तर में सदैव कृपा का वर्षण करते। ललाट उज्ज्वल और प्रशस्त था, मुखमण्डल पर प्रसन्नता खेलती रहती—देखते ही चित्त शान्त हो जाता। देह का श्याम-गौर वर्ण पहले उज्ज्वल था, पर अन्त अन्त में वह मलिन हो गया था। शरीर के अवयव दीर्घ थे, हाथ और पैर भी अपेक्षाकृत दीर्घ थे, वे बायीं ओर कुछ झुककर धीरे धीरे चला करतीं। बाद में घुटनों को वात ने पकड़ लिया। उनके काका ईश्वरचन्द्र अविवाहित थे, उन्होंने अपने समूचे मन-प्राण से अपनी इस लाड़ली भतीजी को गोद और पीठ पर चढ़ाकर बड़ा किया था। बाद में जब भक्तगण माँ के चरणों में सिर लगाकर प्रणाम करते, तो काका को सहन न होता—उन्हें चिन्ता होती कि उनकी इस नयनतारा भतीजी के पैर का रोग कहीं बढ़ न जाय। काका की मृत्यु से माँ को बड़ा शोक हुआ था और वे खूब रोयी थीं। बाद में माँ के शिष्यों की संख्या में ज्यों ज्यों वृद्धि हुई, त्यों त्यों नाना प्रकार के उपद्रव भी उन्हें सहने पड़ते। भक्ति के अतिरेक में कई लोग उनके चरणों पर सिर लोटते, इससे माँ को कष्ट होता और वे मना करतीं। कई लोग बात सुनते, सावधान हो जाते; पर कोई कोई भक्ति की अति-

शयता में बात न मानते। माँ मानव-शरीर में मानवी थीं. लौकिक व्यवहार और रीति-रिवाज मानकर चलतीं। कोई भक्त जब उनके चरणों में तुलसीदल या बिल्वपत्र देना चाहता, तो वे सशंक हो मना करतीं। उद्बोधन में गोलाप-माँ हरदम नजर रखतीं कि कोई उपद्रव न करे। जयरामवाटी में भी सेवक-सेविका को सावधान रहना पड़ता। माँ स्वयं समय-विशेष देखकर उनको सचेत कर देतीं। 'अबोध सन्तानों के लिए कितनी यातनाएँ न सहीं जननी ने नर-देह धारण कर।' माँ में यदि यह सहनशीलता न होती, तो सन्तानों का पालन-पोषण सम्भव न होता।

माँ का सन्तानों के प्रति यह वात्सल्य उनके वयस्क शिष्यों को भी शिशु बना देता। वे अपनी आयु, विद्या, बुद्धि सब भूलकर माँ के पास छोटे शिशु के समान ही आचरण करते। पूजनीय शरत् महाराज को माँ के घर बालक के समान रंग-रस, आनन्द-विरोध, हँसी-मसखरी करते देख ऐसा लगता ––क्या ये ही उद्बोधन के हिमालय-सदृश गम्भीर मूर्ति तथा रामकृष्ण मठ-मिशन के जनरल सेक्रेटरी स्वामी सारदानन्द हैं! एक युवा शिष्य अपने दाहिने हाथ की अँगुली काट बैठा है––खाने में कष्ट होता है। वह बायें हाथ से चम्मच के द्वारा किसी प्रकार खा रहा है। यह देख माँ के प्राण विगलित हो गये, उन्होंने पास बैठ स्वयं खिला दिया। जब तक अँगुली

ठीक नहीं हुई, वह जवान, अशान्त, दुर्धर्ष लड़का भी छोटे शिशु की तरह बैठकर माँ के हाथ से परम तृप्ति के साथ भोजन करता।

माँ के दो शिष्य बाल्यबन्धु हैं। आपस में खूब प्रेम है। माँ सब जानती हैं। जब दोनों माँ के घर इकट्ठे होते, तो माँ, जब बाहर के अधिक लोग नहीं रहते, इन दोनों को अपने दरवाजे के पास बिठा एक थाली में खाना देतीं और आनन्द से खिलकर अपने हाथ से परोसतीं। वे भी दो सहोदर शिशुओं की तरह बैठकर, गप-शप करते हुए परम तृप्ति के साथ धीरे धीरे भोजन करते। माँ चौखट से टिककर खड़ी खड़ी देखतीं, पूछतीं, "क्या लोगे? कौनसी चीज अच्छी लगी? डपटकर खाओ। और थोड़ा दूं?" इत्यादि। और वे भी तब अपनी उम्र आदि भूलकर सचमुच छोटे बच्चे की ही तरह हो जाते।

एक दिन खीर बनी है। दोनों भाई एक ही थाली में खा रहे हैं। दिन चढ़ गया है। माँ ने ठाकुर को भोग लगाकर जल्दी उन लोगों को खाने दिया है--गरम खीर बड़ी थाली में दी है। उनका खाना देख रही हैं, बातें कर रही हैं और खीर गरम है यह कहकर बार बार लाकर थोड़ा थोड़ा दे रही हैं। माँ को लगा कि लड़के संकोच कर रहे हैं, पेट भरकर नहीं खा रहे हैं। इसलिए वे झट पास आयीं और थाली के ऊपर खीर के पास हाथ लाकर, दिखाकर कहने

लगीं, "खीर खाओ, खूब पेट भरकर खाओ।" ऐसा लगा मानो हाथ से उठाकर खीर खिला देंगी। जवान लड़कों ने तृप्ति के साथ भरपेट खाया यह देखकर माँ बड़ी प्रसन्न हो कह रही हैं, "सब अच्छी तरह खा लो।"

लड़कों को एक ही थाल में शिशु के समान खाते देख माँ को बड़ा आनन्द होता। बाँकुड़ा दुर्भिक्ष के सेवा-कार्य से छुट्टी ले जगद्धात्री-पूजा के उपलक्ष में माँ के कुछ शिष्य माँ के घर आये हैं। पूजा के समय लड़के उपस्थित हैं, माँ को बड़ा आनन्द हो रहा है। लड़कों में कोई कोई बड़ा अच्छा गा लेते हैं। वे लोग अत्यन्त उत्साहपूर्वक आनन्द से भरपूर हो भजन गा रहे हैं। अन्तर का भाव उँड़ेलते हुए मातृसंगीत गा रहे हैं। माँ काम-काज की व्यस्तता के बीच भी लड़कों का भजन-गीत सुन रही हैं। एक शिष्य अत्यन्त मधुर गले से गा रहा है--

माँ को देखूंगा कह चिन्ता करे नहीं कोई भी।
वह क्या मात्र तुम्हारी मेरी, जननी है वह सबकी ।।

आदि। गीत बड़ा ही हृदयग्राही है--विशेषकर उसका निम्नलिखित पद--

लड़के के मुख माँ माँ की रट, जगरानी सुनने को।
खड़ी आड़ में, ताकि देख लड़का न पुकारे उसको ।।

सुन्दर गले से उच्चारित, ताल-लय के साथ समन्वित सुमधुर स्वर-लहरी ने माँ के हृदय को छू लिया है। एक लड़के ने भीतर से आकर

बताया, माँ दरवाजे के पीछे बैठकर एकटक नेत्रों से गीत सुन रही हैं। यह सुन गायक और अन्य सन्तानों के प्राण उच्छ्वसित हो उठे। यह गीत, विशेषकर यह पद बारम्बार बहुत देर तक गाया जाता रहा।

पूजा समाप्त होने पर माँ ने अंजलि दे प्रणाम किया, भक्तगण भी प्रणत हुए। मध्यपूजा भोग-आरती हो जाने के बाद सबने प्रसादी सिन्दूर और चन्दन का टीका लगाया और प्रसाद पाने बैठे। भोग-राग का बड़ा आयोजन हुआ है। माँ ओट में बैठ लड़कों का खाना देख रही हैं––बार बार 'यह दो, वह दो' कह रही है। पूजा समाप्त होने पर माँ जब जगद्धात्री को अंजलि दे, गले में वस्त्र डाल प्रणाम कर, प्रतिमा की ओर ताकते हुए हाथ जोड़कर खड़ी होतीं, तब उनका वह उद्भासित मुखमण्डल भक्तों के हृदय को प्रतिमा की अपेक्षा भी अधिक आकर्षित करता। जब माँ तन्त्रधारक––पितृवंश के कुलगुरु–– को भक्तिपूर्वक प्रणाम करतीं, तो वे संकुचित हो हाथ जोड़ प्रतिप्रणाम करके कातर कण्ठ से कह उठते, "माँ, आप भी यह क्या करती हैं?"

पूजा के दूसरे दिन सुबह माँ ने नाश्ते की अद्भुत व्यवस्था की है। कामारपुकुर से वहाँ की विख्यात जलेबी आर्डर देकर मँगायी है। उसे ठाकुर को निवेदित कर वह प्रसाद और बहुत सा मुरमुरा एक ही पात्र में दिया है––सब लड़के एक साथ

खाएँगे। माँ का अभिप्राय जानकर लड़कों के हृदय का उल्लास बढ़ गया। सब शिशु एक ही पात्र में खा रहे हैं और माँ ओट में बैठकर सब देख रही हैं। उस वर्ष काली मामा के बैठकखाने में पूजा हुई थी, पुराना बैठकखाना (जो बड़े मामा के अधिकार में था) भक्तों का वासस्थान बना था।

यद्यपि माँ अपने को एकदम छिपाकर पूरी तरह साधारण ग्राम्य नारी की भाँति जीवन बिताने की चेष्टा करतीं, तथापि अनुगत भक्तों के पास उनका अपना स्वरूप कभी कभी प्रकट हो जाता। यह भी देखा जाता कि माँ उन भाग्यवानों पर उनकी इच्छा के अनुसार कृपा कर उनकी चिरपोषित अभिलाषा पूर्ण कर दे रही हैं। राधू के विवाह के समय एक भक्त ने आहार-निद्रा बिसरकर प्राणपण से परिश्रम किया था। उसकी ऐकान्तिक निष्ठा और भक्ति से पूजनीय शरत महाराज अत्यन्त प्रसन्न हुए थे। विवाह के दूसरे दिन रात को समस्त कार्य सुसम्पन्न हो जाने के बाद जब सब लोग विश्राम और परस्पर वार्तालाप कर रहे थे, उस समय महाराज ने उस भक्त के अद्‌भुत सेवा-कार्य की प्रशंसा करते हुए कहा था, "इस समय यदि एक सौ आठ कमल इकट्‌ठा कर माँ के चरणों में अंजलि दे सको, तो अपने परिश्रम और इस सेवा की चरम पूर्णता प्राप्त कर ले सकोगे।" भक्त भी अद्‌भुत था। महाराज

की बात सुन वह दूसरों को कुछ न बता चुपचाप बाहर चला गया और बहुत परिश्रम एवं उद्यम करके एकसौ आठ कमल पुष्प इकट्ठा कर लाया। और आकर उसने माँ के पास अपने हृदय की अभिलाषा व्यक्त की। आज दयामयी जननी भी अपने इस एकनिष्ठ भक्त के प्रति परम सदय हो आसन पर बैठ गयीं और उसके इच्छानुसार उन्होंने पूजा ग्रहण की तथा उसे अपना स्नेहाशीष दे उसके मन की साध पूरी कर दी। उसका मानव-जन्म सार्थक हुआ। कभी कभी विशेष विशेष दिनों में किसी किसी सन्तान की इच्छा पूर्ण करने के लिए वे विशेष रूप से पूजा ग्रहण करतीं। सन्तान के आग्रह से कभी कदाचित् भोजन का नियम-बन्धन भी टूट जाता। माँ हरदम उसना चावल का भात खातीं, वह उनके अनुकूल होता था। जयरामवाटी के मन्दिर में तथा बागबाजार, कलकत्ता-स्थित श्री माँ के घर (उद्बोधन) में अभी भी उसना चावल का अन्नभोग लगाया जाता है। वैसे विधवा ब्राह्मणियाँ उसना चावल का भात नहीं खातीं।

(क्रमश:)

●

धर्म-प्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

अनुवादक–*स्वामी व्योमानन्द*

(गतांक से आगे)

विविध प्रसंग

प्रत्येक स्थान का एक निर्दिष्ट समय रहता है और वह साधन-भजन के लिए बहुत अनुकूल रहता है। उस समय एक विशेष spiritual current (आध्यात्मिक प्रवाह) बहता है। उस समय जप-ध्यान करने के लिए बैठने पर मन सहज ही स्थिर हो जाता है, खासा आनन्द मिलता है।

प्रश्न––महाराज, किस तरह वह समय जाना जा सकता है?

महाराज––वह समझना कुछ कठिन नहीं है। जो लोग ठीक ठीक साधन-भजन करते हैं, वे कुछ दिन के बाद सहज ही उसे जान सकते हैं, समझ सकते हैं।

वाराणसी संसार से अलग है––महाचैतन्यमय स्थान है। यहाँ बैठकर साधन-भजन करने से दसगुना अधिक फल होता है। और बहुत ही जल्द मन्त्र जागृत हो जाता है। वाराणसी मुक्तक्षेत्र है––यहाँ बाबा विश्वनाथ बिना माँगे जीव को मुक्ति दे रहे हैं। यहाँ छोटे-बड़े, धनी-गरीब जो भी हों, सब कोई मुक्त हो जाएँगे। जैसे भी हो, यहाँ पड़े रहने से ही हो जाएगा।

ठाकुर ने एक दिन कहा, "काली-मन्दिर में

ध्यान कर रहा था, उस समय एक एक करके माया या अज्ञान का परदा उठने लगा। और एक दिन काली-माँ ने कोटि सूर्य के समान ज्योति दिखायी। उस ज्योति से एक चिद्घन-रूप प्रकट हुआ। फिर थोड़ी देर बाद वह ज्योति में मिल गया। मानो निराकार साकार हुआ और साकार मानो निराकार हुआ।"

× × ×

एक दिन कालीपद घोष ने काली-मन्दिर में जाकर माँ को बहुत गाली देना आरम्भ किया। उसकी छाती लाल हो गयी और आँखों से आँसू बहने लगे। गाली सुनकर ठाकुर ने काली-मन्दिर से आकर कहा, "हम लोगों का मातृभाव है। वह भाव बड़ा कठिन है। बिल्कुल अपने लोगों के पास ही वैसा अभिमान चलता है।"

× × ×

समाधि दो प्रकार की होती है--सविकल्प और निर्विकल्प। सविकल्प में रूप के दर्शन होते हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की प्रकृतिवाले लोग जिस जिस भाव का आश्रय लेते हैं, वे तदनुरूप दर्शन पाते हैं। इन सबके पीछे न जा लोग कितने तुच्छ विषयों को लेकर पड़े रहते हैं! भगवान् ही एकमात्र अपने हैं--यह अच्छी तरह जानकर realise (अनुभव) करना होगा। निर्विकल्प में रूप-वूप नहीं है--जगत् ब्रह्माण्ड सब लीन हो जाता है। काशीपुर

बगीचे में स्वामीजी को निर्विकल्प समाधि हुई थी। वे ऐसी सब बातें एकदम गुप्त रख सकते थे। और भी एक प्रकार की समाधि है--आनन्द समाधि। उसमें इतना प्रेमानन्द होता है कि वह शरीर में नहीं समा पाता, ब्रह्मरन्ध्र फट जाता है। उस अवस्था में शरीर सिर्फ इक्कीस दिन तक रहता है।

× × ×

देह ही सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है। इसीलिए ध्यान वगैरह सब शरीर के भीतर करने के लिए कहा जाता है। सहस्रार में पहुँचने से मन फिर नीचे नहीं आना चाहता। "जो पिण्ड में, वही ब्रह्माण्ड में," "रथे च वामनं दृष्ट्वा"--इस सबका अर्थ है, हृदय के भीतर उस परम पुरुष को देखने से फिर जन्म नहीं होता। निम्न अधिकारियों के लिए बाह्य रूप, मन्दिर आदि की रचना की गयी है। रामप्रसाद ने जब हृदय में माँ के दर्शन किये, तो उन्होंने गीत बनाकर कहा--"तुमि माता थाकते आमार जागा-घरे चुरि।" (तुम माँ के रहते मेरे जगते घर में चोरी हो!) अहा, कितनी सुन्दर बात कही है उन्होंने! सचमुच में वह स्वाद एक बार मिलने पर क्या दूसरी चीजें अच्छी लगती हैं? ठाकुर कहते थे, "दोनों भौंहों के बीच में ज्ञाननेत्र है--उसके खुलने पर चारों ओर आनन्द ही आनन्द दिखायी देता है।"

× × ×

राजा के महल में सात परकोटे हैं। किसी गरीब व्यक्ति ने नायब से राजा के दर्शन के लिए प्रार्थना की। नायब उसे साथ लेकर एक से दूसरे परकोटे में जाने लगा और वह व्यक्ति पूछने लगा, ये ही क्या राजा हैं? उत्तर मिला--'नहीं'। इस तरह जब सातवें परकोटे में प्रवेश करने पर राजा के दर्शन हुए, तब उस व्यक्ति ने राजा का सुन्दर रूप देख फिर से प्रश्न नहीं किया। उसी प्रकार गुरु एक एक परकोटे में से ले जाकर अन्त में भगवान् से मिला देते हैं।

× × ×

स्वयं का मन ही श्रेष्ठ गुरु है। जब ध्यान करने पर मन स्थिर होता है, तब वही मन, तुम्हें जो जो करना होगा, सब बतला देगा। यहाँ तक कि दैनिक कार्य में भी 'इसके बाद यह'--ऐसा बतलाते हुए तुम्हारा हाथ पकड़कर ले चलेगा। भगवान् पर अनुराग, प्रेम चाहिए। तभी मन स्थिर होगा।

× × ×

Mental (मानसिक), physical (शारीरिक) and spiritual (और आध्यात्मिक)--इन तीनों शक्तियों का एकत्र समावेश हुए बिना धर्म-साधना बड़ी कठिन है। भगवान् को पाना क्या सहज बात है रे?

× × ×

खूब कर्म करना और कर्म के साथ साथ

भगवान् का स्मरण करना। विश्वास के बिना कोई भी भगवान्-लाभ नहीं कर सकता। जिसने विश्वास करना सीखा है, उसने निश्चय ही भगवान् को पाया है।

यदि विश्वास करो तो एक फूटी कौड़ी की भी कीमत है, और यदि विश्वास न करो तो सोने की मुहर की भी कीमत नहीं है। जिन लोगों का भगवान् पर विश्वास नहीं हुआ, वे ही काट-छाँट करते रहते हैं, पर जिन लोगों का भगवान् पर पक्का विश्वास हुआ है, उन लोगों के सभी संशय दूर हो गये हैं।

× × ×

त्याग किये बिना भगवान् पर भक्ति नहीं होती। त्याग अवश्य चाहिए। त्याग मानी अहंकार का नाश करना।

× × ×

कुछ लोग कहते हैं, यह नाम जपे बिना नहीं होगा, तुम जो नाम जप रहे हो वह गलत है। किसका गलत है या किसका ठीक ! इस क्षुद्र मन-बुद्धि को लेकर तुम्हारा गलत है, मेरा ठीक है––यह सब गड़बड़ी करने की क्या जरूरत ? मिथ्या होने पर सभी मिथ्या है और सत्य होने पर सभी सत्य है। एक बार डुबकी लगाकर देखने पर ही तो बातें समझ में आएँगी। जिसे जो नाम अच्छा लगे, वह वही जपे

न—उसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती ।

× × ×

ठाकुर की कितनी अटूट सत्यनिष्ठा थी ! खाने के लिए बैठने पर यदि कह देते 'नहीं खाऊँगा,' तो फिर खाना नहीं होता था । एक दिन उन्होंने कहा था, यदु मल्लिक के बगीचे में जाऊँगा, किन्तु भक्तों की भीड़ होने के कारण यह बात वे भूल गये, और मैंने भी कुछ नहीं कहा । रात में खाना होने के बाद उन्हें यह बात याद आयी । तब बहुत रात हो गयी थी, फिर भी जाना ही होगा । लालटेन लेकर मैं उनके साथ चला—जाकर देखा कि सब बन्द हो गया है, सब कोई सो रहे हैं । तब बैठकखाना के दरवाजे को थोड़ा ठेल, भीतर में पैर डाल वे वापस आये ।

× × ×

किन्हीं किन्हीं महापुरुषों का कहना है कि मन की दो प्रकार की गति है—अधोगति और ऊर्ध्वगति । अधोगति से हिंसा, स्वार्थपरता, भोगविलास, आलस्य आदि जन्म लेते हैं और ऊर्ध्वगति से ईश्वर पर भक्ति, श्रद्धा, प्रेम आदि का उदय होता है । फिर कोई कोई महापुरुष कहते हैं कि मन की तीन प्रकार की गति है—सत्त्व, रज और तम । तमोगुण से आलस्य, जड़ता, अहं इत्यादि बढ़ता । रजोगुण में 'अच्छा खाऊँगा, अच्छा रहूँगा, बाहर के दस काम करूँगा' इत्यादि भाव रहते हैं । और सत्त्वगुण में ईश्वर का

नाम-गुणगान, भक्ति, श्रद्धा, स्नेह, प्रेम——ये सब मन में सदैव जागते हैं। मन की ऐसी गति बिल्कुल सत्य है। यह हम लोग पग पग में देख पाते हैं।

× × ×

पहले पहल साधना करने के लिए आहार और स्वास्थ्य अनुकूल होना चाहिए। मन जाने कहाँ चला जाता है, दिमाग भी कैसा हो जाता है। यह सब करने के लिए थोड़ा गाय का घी और दूध लेना चाहिए। फिर शरीर भी स्वस्थ होना चाहिए।

रासमणि के मन्दिर में स्थान पाने के बाद ही तो ठाकुर को साधना में सहायता मिली थी। जितने महापुरुष देखे जाते हैं, उनका आहार और स्वास्थ्य अनुकूल था. इसीलिए साधना करने में सुविधा हुई थी। पर हाँ, आहार आदि यदि ठीक से न मिले तो क्या नहीं होगा? अवश्य होगा। भगवान् पर विश्वास, भक्ति, प्रेम रहे तो कहाँ से वह सब जुट जाता है। फिर और सोचना नहीं पड़ता—— जब जिसको आवश्यकता होती है, वे ही जुटा देते हैं।

× × ×

भक्तिपथ और ज्ञानपथ। भक्त को भगवान् का एक रूप चाहिए। कभी रूप देखता है, उन्हें पुकारता है, भजन करता है, रोता है इत्यादि। ज्ञानी लोग ज्योति चाहते हैं। कितने प्रकार की

ज्योति देखते हैं। अन्त में दोनों एक हो जाते हैं। भक्तिपथ में भी अज्ञान का नाश होता है, और ज्ञानपथ में भी अज्ञान, अविद्या का नाश होता है। किन्तु ज्ञान बना रहता है, ज्ञान जाता नहीं। जो जाता है, वह है अज्ञान। इस ज्ञान के उस पार क्या है--यह कोई नहीं बतला सकता। जो जाता है, वही जानता है।

उपनिषद् कहते हैं, भक्त भी ठीक है, ज्ञानी भी ठीक है। दोनों के ही मार्ग कहे गये हैं, फिर भी ज्ञान की बात ही अधिक देखी जाती है।

भागवत ग्रन्थों में पहले अवतार आदि की बातें बतलायी गयी हैं। भक्त के मन को बहुत अच्छा लगता है। उन पर प्रेम उपजता है। और फिर कितनी मूर्तियों की भी बातें कही गयी हैं। किन्तु एकादश स्कन्ध में ज्ञान की चरम सीमा है--पूर्ण वेदान्त है।

योगवासिष्ठ, अष्टावक्रसंहिता आदि पुस्तकें ज्ञान की आदर्श हैं। इन सब ग्रन्थों में ज्ञान का पथ अत्यन्त स्पष्ट रूप से वर्णित हुआ है।

× × ×

मुझे सांख्य बहुत अच्छा लगता है। कैसे पुरुष और प्रकृति से आरम्भ कर उस चरमपथ की ओर चला गया है। प्रकृति और पुरुष चाहिए, दोनों के हुए बिना कुछ नहीं होता। इसीलिए दोनों को लेकर

कितने सुन्दर तरीके से समझाते हुए उसी ओर ले जाया गया है।

x x x

यह सब देखने पर मालूम होता है कि इतना सब आखिर क्यों। प्रलय तो है ही। यह जो कुछ दिखायी दे रहा है, सभी का तो लय होगा--फिर यह सब क्यों? उनकी लीला वे ही जानें। कौन समझेगा भला? प्रलय में यह सब कुछ भी नहीं रहेगा। देखो न, क्षण भर का भूकम्प होने से क्या हो जाता है। इससे थोड़ासा अधिक हो जाय तो वही प्रलय हो जायगा। ऐसा होने के लिए भला देर भी कितनी लगती है? यही तो जीव की अवस्था है।

x x x

तृप्ति नहीं हो रही है, मन में हाहाकार मचा हुआ है--उन्हें पाने के लिए ऐसी छटपटाहट को ही अनुराग कहते हैं। अनुराग ही तो चाहिए।

x x x

दान से क्या और कोई बड़ा धर्म है? ईसा मसीह ने कहा है--Cast thy bread into the water--सागर में कुछ फेंक दो तो वह उसे वापस लौटा देता है। एक बार दो, फिर आएगा। दान क्या कम बात है जी? सभी धर्मों में दान का उल्लेख है।

दान तो करोगे, किन्तु थोड़ा सोच-विचार कर करना होगा। देश, काल, पात्र का विचार कर दान

देना चाहिए। जानते तो हो, कितने कष्ट से पैसा मिलता है---मुँह से खून गिर जाता है। ऐसा पैसा सत्पात्र को मिलना ही अच्छा है।

x x x

इस ब्रह्माण्ड के साथ तुलना करने पर तो हम लोग कहीं के नहीं रह जाते। यह पृथ्वी सूर्य से छोटी है, और हम लोग इस पृथ्वी से कितने छोटे हैं। यह तो हाल है। अनन्त के साथ तुलना करने पर हम लोगों का कुछ भी नहीं रह जाता। आजकल वैज्ञानिकों ने कितने नक्षत्रों का आविष्कार किया है। उनका कहना है कि वे सूर्य से भी बहुत बड़े हैं। इसके छोड़ और भी ऐसे नक्षत्र हैं, जिनका प्रकाश अभी तक पृथ्वी पर नहीं आ पाया। तो फिर सोचकर देखो कि तुम कहाँ रह जाते हो ?

x x x

शव को देखकर, वृद्ध को देखकर बुद्धदेव जीवों का परित्राण करने के लिए निकल पड़े। वे चाहते थे कि मनुष्य को इस जन्म, मृत्यु, और जरा से बचाना चाहिए। उसके लिए उन्होंने कितनी साधना करके अन्त में निर्वाण लाभ किया। हिन्दू धर्म की मुक्ति भी वही है। पर हाँ, कुछ भेद है।

x x x

उन्हें आन्तरिक हृदय से बताना, "हे ईश्वर ! तुम इतने अपने होकर भी कहाँ हो ? तुम तो पिता

से भी बड़े पिता हो, माँ से भी बड़ी माँ हो, भाई से भी बडे भाई हो, मित्र से भी बड़े मित्र हो, स्वजनों से भी अपने हो, तुम कहाँ हो ? तुम्हारे दर्शन क्या नहीं होंगे ?" ऐसा कहकर उन्हें पुकारना। और भी कहना, "तुम्हें छोड़ तो और कोई भी ठीक ठीक अपने हैं नहीं। फिर तुम्हारे पास जिद न करूँ तो और किसके पास करूँ ?"

x x x

किसी एक साधु ने बैंक में दस हजार रुपये जमा किये हैं यह सुनकर ठाकुर ने कहा था, "जो आगे-पीछे सोचकर काम करेगा, वह जहन्नुम में जायगा।"

x x x

भगवान् का विराट् रूप से चिन्तन करना चाहिए। इसीलिए विशाल चीजें--हिमालय पहाड़, समुद्र या आकाश यह सब देखकर विशालता का भाव लाना चाहिए।

x x x

बाहर कुछ नहीं है, सभी भीतर है। बाहर का गीत कुछ भी नहीं है। भीतर में इतना मधुर संगीत सुनायी पड़ता है कि सब शीतल हो जाता है। पंचवटी में ध्यान करते करते ठाकुर वीणा-ध्वनि सुन पाते थे।

x x x

एक दिन दोपहर में पंचवटी में बैठकर जब मैं ध्यान कर रहा था, तब ठाकुर शब्द-ब्रह्म के बारे में

चर्चा कर रहे थे। वह सब चर्चा सुनते सुनते वृक्ष में बैठे हुए पक्षीगण तक वेद में जो सब गीत हैं गाने लगे--ऐसा मैंने सुना था।

x x x

मैं अधिक और क्या कहूँ, बतलाओ। तुम लोगों का कल्याण हो, ध्यान-धारणा और साधन-भजन में मन हमेशा लगा रहे। उन्हें बताओ, उनसे कहो।

●

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें:–

महेन्द्रनाथ गुप्त

स्वामी प्रभानन्द

(महेन्द्रनाथ गुप्त या 'म' या 'मास्टर महाशय' 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' के प्रत्येक पाठक के लिए सुपरिचित हैं। 'वचनामृत' के प्रथम अध्याय में उन्होंने श्रीरामकृष्ण से अपनी पहली कुछ मुलाकातों का प्रांजल वर्णन किया है। रामकृष्ण संघ के स्वामी प्रभानन्द प्रस्तुत लेख में अन्य प्रकाशित ग्रन्थों के आधार पर उनकी पहली मुलाकात का विशेष वर्णन करते हैं। यह लेख उनके मूल अँगरेजी लेख का अनुवाद है, जो 'प्रबुद्ध भारत' अँगरेजी मासिक के अगस्त, १९७३ अंक में प्रकाशित हुआ था।—स०)

महेन्द्रनाथ गुप्त (१८५४-१९३२), जो 'म' उपनाम से अधिक परिचित हैं, का श्रीरामकृष्ण से मिलन एक संयोग ही था। यद्यपि इस मिलन की कोई योजना नहीं बनायी गयी थी, तथापि वह पूर्व-निर्दिष्ट था, जैसा कि श्रीरामकृष्ण जानते थे। उन्होंने स्वयं एक दिन 'म' से कहा था, "पहले ही से मुझे सब दिखा दिया जाता है। बटतल्ले (पंचवटी) में गौरांग के संकीर्तन का दल देखा था। उसमें शायद बलराम को देखा था और तुम्हें भी शायद देखा है...। तुम्हें मैं पहचान गया, तुम्हारा चैतन्य भागवत (चैतन्य महा-प्रभु की जीवनी) पढ़ना सुनकर। तुम अपने आदमी हो। एक ही सत्ता है, जैसे पिता और पुत्र। यहाँ सब आ रहे हैं, जैसे कलमी की बेल—एक जगह पकड़कर

खींचने से सब आ जाता है...। जब तक यहाँ तुम नहीं आये, तब तक तुम भूले हुए थे, अब अपने को पहचान सकोगे।"[१]

महेन्द्रनाथ का जन्म कलकत्ते में १४ जुलाई १८५४ को हुआ था। पिता मधुसूदन गुप्त और माता स्वर्णमयी देवी धर्मपरायण दम्पति थे। महेन्द्रनाथ धार्मिक निष्ठा और सदाचार के वातावरण में बड़े हुए। जब वे चार वर्ष के थे, तब अपनी माता के साथ रथयात्रा उत्सव देखने के लिए गंगा के पश्चिमी तट पर माहेश नामक स्थान पर गये थे। वापसी में दल दक्षिणेश्वर के नवनिर्मित भवतारिणी मन्दिर[२] को देखने के लिए रुका था। बाद में 'म' उस घटना का स्मरण करते हुए कहते थे, "मन्दिर तब नया नया था, पूरा सफेद सफेद था। मन्दिर के दर्शन के समय मैं अपनी माता से बिछुड़ गया और मन्दिर के चबूतरे पर खड़ा हो रोने लगा। उन मकानों में से किसी एक से एक युवक बाहर आया और मुझे चुप कराने लगा। वह पूछने लगा, 'यह लड़का किसका है ? इसकी माँ

---

१. 'म' कृत 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भाग १, च. सं. पृष्ठ ५६६-७।

२. भवतारिणी यानी जगन्माता काली। तब यह रासमणि के मन्दिर के नाम से अधिक जाना जाता था। रानी रासमणि ने नौ लाख रु. व्यय कर इसका निर्माण कराया था और उसकी प्राणप्रतिष्ठा ३१ मई १८५५ को करायी थी।

कहाँ चली गयी है'?" 'म' को ऐसा विश्वास था कि वह युवक और कोई नहीं, श्रीरामकृष्ण ही थे, जो उनके बचपन से उनकी रक्षा करते हुए साथ थे। उनके बालपन की एक और दूसरी घटना भी उनके स्मृतिपटल पर अंकित थी। जब श्रीरामकृष्ण ने एक दिन उनसे पूछा था, "तुम्हें आश्विन महीने में (५ अक्तूबर १८६४) आये तूफान की याद है?" तो इस प्रश्न में उन्होंने एक विशेष महत्त्व की उपलब्धि की थी। उन्होंने उत्तर दिया था, "जी हाँ। तब मैं बहुत छोटा था—नौ या दस साल का। मैं एक कमरे में अकेले बैठकर भगवान् से आकुल होकर प्रार्थना कर रहा था।"

'म' कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रतिभावान् छात्र थे। उन्होंने कुछ दिन किसी व्यापारिक संस्थान में काम किया और फिर शिक्षकीय पेशे में आ गये। उन्होंने कई स्कूलों में हेडमास्टर के रूप से कार्य किया और कालेजों में लेक्चरर के रूप से भी, तथा अच्छी प्रसिद्धि अर्जित की। जब वे श्रीरामकृष्ण से पहली बार मिले, तो पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा स्थापित मेट्रोपॉलिटन इंस्टिटयूशन में शिक्षक थे।

श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आने के शीघ्र बाद ही उन्होंने ठाकुर से दर्जनों ऐसे लड़कों की भेंट करायी, जो आध्यात्मिक दृष्टि से संस्कारी प्रतीत होते थे; इसीलिए श्रीरामकृष्ण के भक्तगण उन्हें विनोद में

'लड़का भगानेवाला मास्टर'[3] कहा करते थे।

तत्कालीन अन्य 'इंग्लिशमैनों'[4] की तरह 'म' को भी पश्चिमी दर्शन और विज्ञान के प्रति रुचि हो गयी। केशवचन्द्र सेन के चुम्बकीय व्यक्तित्व से, विशेषकर उनकी सशक्त वक्तृताओं से आकर्षित होकर 'म' ब्राह्मधर्म की ओर झुके और इस प्रकार अपनी धार्मिक वृत्ति को तुष्टि प्रदान करना चाहा। यह बहुत सम्भव है कि ब्राह्मसभाओं में या ब्राह्मभक्तों की गोष्ठियों में उन्होंने दक्षिणेश्वर के परमहंस की बात पहले पहल सुनी। केशवचन्द्र के प्रशंसक के रूप में उन्होंने 'इंडियन मिरर', 'थीइस्टिक क्वार्टरली रिव्यू' आदि में परमहंसदेव के बारे में अवश्य पढ़ा होगा। फिर, उनके एक नजदीक सम्बन्धी, नगेन्द्रनाथ गुप्त,[5]

---

३ स्वामी सारदानन्द कृत 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भाग ३, द्वि. सं., पृष्ठ १४५। यह सुनकर श्रीरामकृष्ण कहा करते, "उसका यह नाम उपयुक्त ही है।"

४. श्रीरामकृष्ण महेन्द्र एवं अन्य अँगरेजी-शिक्षित युवकों को 'इंग्लिशमैन' कहा करते। द्रष्टव्य 'वचनामृत', भाग १, पृष्ठ ५०९।

५. नगेन्द्रनाथ गुप्त--'दि ट्रिब्यून', लाहौर के सम्पादक --अपनी पुस्तक 'रिफ्लेक्शंस एंड रेमिनिसेंसेज' में १९४७ में लिखते हैं, "रामकृष्ण को देखने और सुनने के बाद मैं महेन्द्र-नाथ गुप्त से मिलने गया। वे मेरे सम्बन्धी थे और उम्र में मुझसे काफी बड़े थे। मैंने उन्हें सब कुछ बताया और दक्षिणे-श्वर हो आने के लिए उन पर जोर डाला। वे दूसरे साल दक्षिणेश्वर गये...।"

श्रीरामकृष्ण से १८८१ में मिले थे। उन्होंने 'म' को अपनी इस मजेदार भेंट की कहानी सुनायी थी और शीघ्र दक्षिणेश्वर जाने के लिए उन पर बल दिया था। इसने भी महेन्द्र को परमहंस से मिलने के लिए प्रेरित किया हो। तथापि दक्षिणेश्वर के सन्त के बारे में जानकारी की यह पृष्ठभूमि इतनी पर्याप्त नहीं थी कि वह धार्मिक प्रवृत्तिवाले इस स्कूल मास्टर को यथार्थ में दक्षिणेश्वर जाने को प्रेरित करती।[८]

कालेज में पढ़ते समय ही उन्होंने निकुंज सेन से विवाह किया था, जो रिश्ते में केशवचन्द्र सेन की बहिन थीं। इस विवाह के बाद ही महेन्द्र का पारिवारिक जीवन आँधी-तूफानों से घिर गया विपरीत परिस्थितियों ने उनके जीवन को ऐसा। दूभर बना दिया कि विनीत और शान्त महेन्द्र एकदम क्षुब्ध हो उठे, यहाँ तक कि वे आत्मघात कर लेने की भी बात सोचने लगे। मन की ऐसी विक्षुब्ध स्थिति में वे एक रात्रि दस बजे के बाद घर से निकल पड़े। उस दिन शनिवार था। पति के मनोभाव को भाँपकर निकुंजदेवी भी बच्चों को साथ ले

---

८. भले ही नगेन्द्रनाथ गुप्त ने अपनी पुस्तक 'रामकृष्ण-विवेकानन्द' (पृ. ११) में यह दावा किया है, "मैं कृतज्ञतापूर्ण एक विनम्र सन्तोष के साथ इस तथ्य की याद करता हूँ कि मेरे द्वारा निर्दिष्ट होकर ही महेन्द्रनाथ पहली बार रामकृष्ण के पास गये थे . . . ।"

उनके साथ चल पड़ीं। जब वे बग्घी में जा रहे थे, तो श्यामबाजार के पास उसका एक चक्का निकल गया। महेन्द्र ने वह रात्रि वहीं समीप रहनेवाले अपने मित्र के यहाँ बिताने का निश्चय किया। पर उन्हें और उनके परिवार को जो ठण्डा स्वागत मिला, उससे वे इतने खिन्न हुए कि उन्होंने तत्काल मित्र का घर छोड़ दिया। वे उस मुहल्ले के अस्तबल में आये और बग्घीवाले को किसी प्रकार वराहनगर तक पहुँचा देने के लिए राजी किया। वहाँ वे अपने बहनोई ईशान कविराज[७] के यहाँ ठहरे।[८]

यद्यपि 'म' की बड़ी बहिन ने अपने भाई-भौजाई का स्नेहपूर्वक स्वागत किया, पर अपने पारिवारिक जीवन के कटु अनुभवों का संत्रास उनके मन पर ऐसा छाया हुआ था कि जीवन उनके लिए दूभर बन गया। उनके छलनी हुए हृदय की पीड़ा को कुछ कम करने की दृष्टि से उनके मित्र और दूर के सम्बन्धी सिद्धेश्वर मजुमदार (सिधू) उन्हें वराहनगर के कुछ बगीचे घुमाने ले गये।

---

७. ईशान कविराज 'म' की बड़ी बहिन के पति थे और कविराज (वैद्य) के रूप से प्रसिद्ध थे। उन्होंने श्रीरामकृष्ण की कुछ समय तक चिकित्सा की थी। यह बहुत सम्भव है कि 'म' ने ईशान से भी श्रीरामकृष्ण के बारे में सुना हो।

८. 'म' की जीवन-कथा का यह भाग स्वामी नित्यात्मानन्द कृत 'श्रीम—दर्शन' (बंगला, भाग १, द्वितीय संस्करण) की भूमिका (पृ. २३-२४) के आधार पर लिखा गया है।

वह रविवार का दिन था, २६ फरवरी १८८२।[१] वे बहुत से उद्यानों में निरुद्देश्य टहलते रहे। (वराहनगर में कलकत्ता के बहुत से अमीरों के उद्यान-भवन थे)। जब वे प्रसन्न बनर्जी के बगीचे में घूम रहे थे, तो सिद्धेश्वर ने सुझाया, "गंगा के किनारे एक बड़ा रमणीक स्थान है। जाना चाहोगे? एक साधु, परमहंस वहाँ रहते हैं।" 'म' ने स्वीकृति जतायी और वे तुरन्त रासमणि के कालीमन्दिर जाने के लिए दक्षिणेश्वर चल पड़े। शाम के समय प्रमुख द्वार पर पहुँचे।

भीनी वासन्ती बयार बह रही थी। चमेली, जूही और अन्य फूलों की महक हवा में घुली हुई थी। गंगा के तीर पर स्थित उद्यान की झलक ने 'म' के कविहृदय को छू लिया। उन्हें हलका लगा और सुख की अनुभूति हुई। उन्होंने एक कमरा लोगों से भरा देखा। 'म' को मालूम पड़ा कि उसमें परमहंस रहते हैं और कलकत्ते से अनेक लोग उनका सत्संग करने आते हैं। 'म' भी उन्हें देखने और सुनने को उत्सुक हुए।

---

१. 'म' की श्रीरामकृष्ण से पहली भेंट श्रीरामकृष्ण के जन्मदिन (२३ फरवरी १८८२) के कुछ ही दिन बाद हुई थी। फिर 'म' लिखते हैं कि वह रविवार का दिन था, फरवरी का महीना ('दि गॉस्पेल ऑफ श्रीरामकृष्ण', पृ० १)। २३ फरवरी और महीने की आखिरी तारीख के बीच केवल एक ही रविवार पड़ता था——२६ फरवरी को।

वे दोनों परमहंस के कमरे में गये और देखा कि फर्श पर बैठे हुए सभी लोग एकाग्रचित्त से उनकी वाणी सुन रहे हैं। परमहंस एक बड़ी चौकी के बाजू में एक छोटी चौकी पर पूर्व की ओर मुँह करके बैठे हुए थे। वे ईश्वर की बात कर रहे थे। उनका स्वर कोमल और मधुर था। 'म' ने देखा कि परमहंस के शरीर का वर्ण कुछ श्यामता लिये हुए है। उनके छोटीसी दाढ़ी है और अन्तर्मुखीन आँखें। वे मध्यम कद के हैं और दुबले-पतले। उनकी उम्र छियालीस साल की है। वे ग्राम्य बँगला में हलकी तुतलाहट के साथ बोलते हैं। 'म' ने उनके समान मोहक बोलने-वाला कभी किसी को नहीं सुना था। वह गहन आध्यात्मिक ज्ञान की अटूट धारा थी।

वे समवेत लोगों को किसी प्रकार बाधा न देते हुए कमरे के एक कोने में चुपचाप खड़े रहे। यद्यपि श्रीरामकृष्ण वार्तालाप में मग्न थे, तथापि नवागन्तुकों का आना उन्होंने लक्ष्य कर लिया।

'म' तब सत्ताईस वर्ष के थे। वे ऊँचे पूरे, गौर वर्ण के, लम्बी दाढ़ीवाले व्यक्ति थे, जो दूसरों को अपनी विनम्रता, मधुर व्यवहार और शान्त प्रवृत्ति से प्रभावित कर लेते थे। उनकी आँखें दीर्घ और खुली थीं, ललाट चौड़ा था तथा मुखड़ा बुद्धि की आभा से दीप्त था। सत्य ही वे एक आध्यात्मिक सोख्ते थे, जो धधक उठने के लिए दैवी ताप की चिनगारी की

प्रतीक्षा में थे।

'म' को पहली नजर में ही श्रीरामकृष्ण ने उन कतिपय चुने हुए लोगों में से एक के रूप में पहचान लिया, जिनके लिए जगन्माता के पास रोते रोते उन्होंने कहा था, "माँ, यदि मुझे भक्त न मिलें तो मैं जरूर मर जाऊँगा। तू तत्काल उन सबको मेरे पास ले आ।" 'म' को देखते ही श्रीरामकृष्ण आश्चर्य से स्तब्ध रह गये। बाद में अपना अनुभव 'म' को बताते हुए कहा था, "तुम लोग अपने आदमी हो, आत्मीय हो . . .। मैंने श्रीगौरांग के सांगोपांगों को देखा था; भाव में नहीं, इन्हीं आँखों से . . .। उनमें शायद तुम्हें भी देखा था। और शायद बलराम को भी। किसी को देखकर झट उठकर क्यों खड़ा हो जाता हूँ, जानते हो? आत्मीयों को दीर्घकाल के बाद देखने से ऐसा ही होता है।"[१०]

श्रीरामकृष्ण कुशल मुखसामुद्रिकशास्त्री थे। जो भी उनके पास नया आगन्तुक आता, वे झट उसके अंगों की विशेषता देख लेते और उसकी आध्यात्मिक सम्भावना का एक आकलन कर लेते। बाद में उन्होंने अपना निष्कर्ष देते हुए कहा था, "मैं तुम्हारी आँखों और चेहरे के लक्षणों से देख सकता हूँ कि तुम योगी हो। तुम उस योगी की भाँति दिखते हो, जो अभी ही ध्यान से उठा है।"

---

१०. 'वचनामृत', भाग १, पृष्ठ ५१०।

'म' श्रीरामकृष्ण के शब्दों में इतना डूब गये कि उन्हें अपने चारों ओर देखने का अवकाश ही नहीं मिला। वे अवाक् खड़े रहे। उन्होंने अपना पहला अनुभव इस प्रकार व्यक्त किया है--

"वे मानो ऐसे स्थान पर खड़े हों, जहाँ सारे तीर्थ आकर एकत्र हो जाते हैं, जहाँ मानो श्रीशुकदेव स्वयं भगवत्कथा कह रहे हों या फिर श्रीचैतन्य पुरी में रामानन्द, स्वरूप और अन्य भक्तों के साथ भगवद्-गुणानुवाद कर रहे हों।"

श्रीरामकृष्ण कह रहे थे--"जब श्रीभगवान् का नाम एक ही बार जपने से रोमांच होता है--आँसुओं की धारा बहती है, तब निश्चय समझो कि सन्ध्यादि कर्मों की समाप्ति हो जाती है--तब कर्मत्याग का अधिकार पैदा हो जाता है; कर्म आप ही आप छूट जाते हैं।" आपने फिर कहा--"सन्ध्यावन्दन का लय गायत्री में होता है और गायत्री का ओंकार में।"[११]

'म' ने चारों ओर आश्चर्य से देखा और अपने आप से कहा, "अहा, कैसा मनोहर स्थान है! कैसे मोहक ये व्यक्ति हैं। उनकी वाणी कितनी सुन्दर है! यहाँ से जाने की इच्छा नहीं होती।"

सन्ध्या हो रही थी। ज्योंही श्रीरामकृष्ण का सम्भाषण समाप्त हुआ, उनके दर्शनार्थी जो अब तक दत्तचित्त हो बैठे हुए थे, घर लौटने के लिए उठ खड़े

११. वही, पृष्ठ १।

हुए। अब 'म' ने विचार किया, "पहले जरा चारों ओर देख लूँ; फिर यहाँ वापस आऊँगा और बैठूँगा।"

जब वे सिधू के साथ कमरे से निकले, तो मन्दिर से आनेवाली सान्ध्यआरती की सुमधुर ध्वनि सुनायी दी, जो नगाड़े, घण्टे, घण्टियों और झाँझ-मजीरों के वादन से निकल रही थी। बगीचे के दक्षिणी छोर पर स्थित नौबतखाने से निकलनेवाली शहनाई की धुन भी उन्हें सुनायी पड़ी। ये ध्वनियाँ गंगा के वक्ष पर तैरती हुई निकल गयीं और दूर जाकर विलीन हो गयीं। फूलों की खुशबू से महकती वासन्ती बयार धीमे धीमे बह रही थी; चन्द्रमा उसी समय उगा था। लगता था मानो प्रकृति और मनुष्य दोनों सान्ध्य आरती के लिए तैयार हो रहे हैं।

'म' और सिधू भवतारिणी और राधाकान्त के मन्दिरों में गये तथा द्वादश शिवमन्दिरों में भी, एवं देवताओं की आरती देखी। आरती समाप्त होने पर दोनों मित्र श्रीरामकृष्ण के कमरे की ओर आये। उन्होने दरवाजा बन्द देखा। द्वार पर वृन्दा (कहारिन) खड़ी थी। उससे 'म' को मालूम हुआ कि परमहंस अपने कमरे में हैं तथा यह भी कि वे कोई पुस्तक नहीं पढ़ते, क्योंकि 'सभी पुस्तकें उनके मुँह में हैं।'

'म' ने पूछा—"अब तो ये शायद सन्ध्या करेंगे? —क्या हम भीतर जा सकते हैं? एक बार खबर

दे दो न ?"

वृन्दा--"तुम लोग जाते क्यों नहीं ? जाओ, भीतर बैठो ।"

कमरे में प्रविष्ट हो 'म' ने श्रीरामकृष्ण को हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उनकी आज्ञा पा वे और सिधू नीचे फर्श पर बैठ गये । श्रीरामकृष्ण के कमरे में तभी तभी धूना दिया गया था और वे छोटी चौकी पर बैठे हुए थे । श्रीरामकृष्ण के प्रश्नों के उत्तर में 'म' ने अपने बारे में जानकारी दी । पर 'म' ने गौर किया कि श्रीरामकृष्ण बीच बीच में अन्यमनस्क हो जाते हैं । बाद में उन्हें पता चला कि इसी को 'भाव' कहते हैं और यह कि सन्ध्या के बाद श्रीरामकृष्ण बहुधा इस भाव में चले जाते हैं और कभी कभी तो बाह्यज्ञान भी पूरी तरह खो बैठते हैं । 'म' ने कहा, "आप तो अब सन्ध्या करेंगे । तो हम चलें ?"

श्रीरामकृष्ण (भावस्थ)--"नहीं,--सन्ध्या--ऐसा कुछ नहीं ।"

वार्तालाप कुछ क्षण चला । फिर 'म' ने श्रीरामकृष्ण को प्रणाम किया और उनसे विदा ली । श्रीरामकृष्ण ने मधुर स्वर से कहा, "फिर आना ।"

श्रीरामकृष्ण ने उनका हृदय चुरा लिया था । जब से वे श्रीरामकृष्ण से मिले थे, वे अपने हृदय में एक खिंचाव का अनुभव कर रहे थे । वे उनके आनन्दमय रूप का चिन्तन करते और उनकी विमोहक

वाणी का स्मरण करते ।

उनकी दूसरी भेंट में श्रीरामकृष्ण ने उन्हें सलाह दी--"सब काम करना चाहिए, परन्तु मन ईश्वर में रखना चाहिए। माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि सबकी सेवा करते हुए इस ज्ञान को दृढ़ रखना चाहिए कि ये हमारे कोई नहीं हैं।"[12]

तीसरी भेंट में श्रीरामकृष्ण ऐसे व्यक्ति का उल्लेख करते हुए जिसे संसार में कई प्रतिबद्धताएँ हैं, 'म' से बोले, "कभी कभी साधुओं का संग करना चाहिए और कभी कभी निर्जन स्थान में ईश्वर का स्मरण और विचार। परमात्मा से भक्ति और विश्वास की प्रार्थना करनी चाहिए।"[13]

इस अवसर पर 'म' ने पहली बार श्रीरामकृष्ण को समाधि में देखा। उसने उनके मन पर अमिट छाप अंकित कर दी और वे अत्यन्त मुग्ध हो घर वापस लौटे। वे 'अफीम के चस्के में पड़े मयूर' की भाँति श्रीरामकृष्ण के पावन सत्संग में इतने मत्त हो गये कि एक क्षण के लिए भी वे श्रीरामकृष्ण का विचार अपने मन से दूर नहीं कर सकते थे। उन्हें अचरज होता कि कैसे एक आदमी बिना सुपठित हुए इतना गहरा ज्ञान अर्जित कर सकता है। श्रीरामकृष्ण ने 'म' के मनोभाव को एक सटीक दृष्टान्त के द्वारा समझाया—"वह

१२. वही, पृ. ८।

१३. वही, पृ. १८।

('म') एक माँ के समान है, जिसके सात या आठ बच्चे हैं। वह दिनरात अपने घर-गृहस्थी के काम-काज में व्यस्त रहती है। पर बीच बीच में अपने पति की सेवा करने का समय निकाल लेती है।" इस सिद्धान्त ने 'म' को दिखा दिया कि अपने सांसारिक कर्तव्यों और इस नव आध्यात्मिक जीवन का समन्वय कैसे करना चाहिए।

वे श्रीरामकृष्ण के विचारों से इतना भर गये थे कि उन्होंने उनकी वाणी को सावधानीपूर्वक लिपिबद्ध करना प्रारम्भ किया। यद्यपि प्रकट रूप में तो उन्होंने स्वयं के लाभ के लिए ही ऐसा किया,[१४] पर विभिन्न अवसरों पर श्रीरामकृष्ण की क्रियाओं और अभिवचनों से स्पष्ट हो जाता है कि 'म' ने मात्र अपनी इच्छा से यह अभिलेखन नहीं किया। लगता है कि वह दैवी योजना का एक अंग था। बाद में 'म' ने अपना मन बदल दिया और अपनी टिप्पणियों को अँगरेजी में पत्रक के रूप में प्रकाशित किया। उसका बड़ा अच्छा स्वागत किया गया।[१५] पर अपने कुछ मित्रों के जोर डालने पर उन्होंने बँगला में इन वार्तालापों को 'श्री-

---

१४. 'वचनामृत', भाग ३, तृ. सं., पृ ५५२। 'म' गिरीश घोष से—"वह मैंने अपने लिए लिखा है, किसी दूसरे के लिए नहीं...। जब मेरा देहान्त हो जाएगा, तब पाओगे।"

१५. स्वामी विवेकानन्द ने 'म' को बधाई देते हुए लिखा था—"C'est bon, mon ami (मित्र, ठीक चल रहा है)

श्रीरामकृष्णकथामृत' का शीर्षक दे पाँच भागों में प्रकाशित किया,[१६] जिसे अँगरेजी में अनुवादित कर 'दि गॉस्पेल ऑफ श्रीरामकृष्ण' के नाम से प्रकाशित किया गया है[१७] (तथा हिन्दी में तीन भागों में 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के नाम से)।

—अब आपने यथार्थ कार्य प्रारम्भ किया है। हे वीर, अपना आत्मविकास कीजिए! जीवन क्या निद्रा में ही व्यतीत होगा? समय तो बीतता जा रहा है! शाबास, यही तो मार्ग है!" ('विवेकानन्द साहित्य' षष्ठ खंड, प्र. सं., पृ ३८५।

१६. रामचन्द्र दत्त—तत्त्वमंजरी', भाग १, पृ १८४-७।

१७ आल्डस हक्सले ने इस अविस्मरणीय कृति के प्रति साधुवाद ज्ञापित करते हुए कहा, "... जहाँ तक मेरी जानकारी है, सन्त-चरित-लेखन के क्षेत्र में 'म' ने एक अपूर्व कृति की रचना की है। अन्य किसी भी सन्त के पास इनके समान योग्य और अथक परिश्रमी बॉस्वेल नहीं रहा।" ('दि गॉस्पेल ऑफ श्री रामकृष्ण' की भूमिका में)।

●

"विचार दो प्रकार का होता है - अनुलोम और विलोम। जैसे केले के स्तम्भ का छिलका और उसके भीतर का गूदा। अथवा छिलके से गूदा और गूदे से छिलका। अर्थात् छिलके आदि से सार वस्तु को और सार वस्तु से छिलके आदि असार वस्तु को पृथक् पृथक् देखना।"

—श्रीरामकृष्ण

स्वामी अखण्डानन्द के चरणों में (८)

"एक भक्त"

(स्वामी अखण्डानन्द श्रीरामकृष्ण के संन्यासी-शिष्यों म सबसे छोटे थे और भक्तों में 'बाबा' के नाम से परिचित थे। उनके सस्मरणों और उपदेशों के लेखक 'एक भक्त' उन्हीं के एक शिष्य हैं और रामकृष्ण सघ के संन्यासी हैं। ये संस्मरण बँगला में 'स्वामी अखण्डानन्देर स्मृतिसचय' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत लेख वहीं से गृहीत हुआ है।—स०)

रंगून से एक लड़का दीक्षा के लिए आया है—फूल-चन्दन सजाकर तैयार है। अब तक पूजाघर में था, एक वार इधर देखने के लिए आया है। दाढ़ी बनाते बनाते बाबा बोले, "काफी समय हो चुका है। सुनो, आज आत्मपूजा कर लो। यह सब फल-फूल लकर अपनी पूजा कर लो—'आत्मने नमः'। पहले आत्मविश्वास, आत्मश्रद्धा चाहिए, तब तो होगा। ठाकुर कहते थे, 'जिसका जो इष्ट, उसका वह आत्मा।' तब तो आत्मपूजा होने से ही काम बन जायगा। समझे? फूल-चन्दन ले खुद की पूजा करो और फल-मिठाइयाँ ले गपागप खा डालो। हा हा, कैसा मन के लायक विधान बन गया? आज 'आत्मपूजा' हो जाय, कल दीक्षा हो जायगी। ठीक है तो? सचमुच अबसे ऐसा नियम कर देने से अच्छा होगा—दीक्षा के पूर्व दिन 'आत्मपूजा' करनी होगी। कैसा मजा आएगा! हम लोगों का सब तो नया नया है, पुराना एकांगीपना अच्छा नहीं लगता।"

छोटे बालक की-सी सरल हँसी से कमरा भर

गया। अपने रंग-रस से स्वयं ही आत्मविभोर हो गये। फिर बोले, "अरे, जरा देखो तो—कहीं वह सच सच ऐसा करने बैठ तो नहीं गया। सब गपागप ? खूब सरल है तो !"

x x x

रंगून के भक्त से बाबा ने कहा, "ठाकुर के स्थान में आ रहे हो—हाथ में मिठाई लेकर आना चाहिए। ठाकुर के लिए ही कह रहा हूँ। मैं तो मिठाई खाता नहीं। अब रहने दो, यहाँ से तुम मठ (बेलुड़ मठ) जाना—अच्छी कोई मिठाई ले ठाकुर-दर्शन को जाना। समझे ?"

इस भक्त ने एक दिन सारी रात बाबा को पंखा झला, दूसरे की पारी आने पर भी उसे नहीं दिया। सुबह सुबह बाबा को कुछ ठण्ड लगने लगी, तब भी उसने बन्द नहीं किया। सुबह बाबा कह रहे हैं, "अरे, उसका अभी नवानुराग है। सारी रात पंखा झलता रहा, कहने पर भी नहीं रुका। करने दो दो दिन, फिर तुम लोग तो हो ही।"

x x x

बाबा कह रहे हैं—"पैसे के साथ चौदह वर्ष कोई सम्बन्ध नहीं था। पहाड़ में, जंगल में या रास्ते में एक रुपया भी यदि साथ रहता, तो लौटकर आना नहीं होता। कुछ भी नहीं था, तब भी तो लाठी मार अधमरा कर दिया था। रहने से

क्या हाल होता समझ ही पा रहे हो। स्वामीजी (विवेकानन्दजी) को जब (कच्छ देश में) खोज रहा था, तो नारायण सरोवर के रास्ते डाकुओं के हाथ पड़ गया। अन्त में जब स्वामीजी से भेंट हुई, तो उन्होंने सब सुनकर—विशषतः यह सुनकर कि साथ में रुपया-पैसा नहीं था—कहा, 'इसीलिए तो तुझे इतना प्यार करता हूँ।'

"अब जब ठाकुर के काम में लगा हूँ, एक पाई-पैसे का भी हिसाब रखना होगा, यह public money (जनता का पैसा) है। जब यह सब काम साधुओं के हाथ ही आकर पड़ गया है, तब तो दिखाना होगा कि अनासक्त कर्म किसे कहते हैं। दाम में एक पैसा कम कराने के लिए कितना झगड़ा करता हूँ। जो उसने कहा, बस, त्योंही जेब से निकालकर दे दिया! मैं क्यों डाँटता हूँ सो कैसे समझोगे? ठाकुर ने जब संसार बसा ही लिया है तो संसारी लोग यहाँ आकर सीखकर जाएँगे कि संसार किस प्रकार चलाना चाहिए।

"जब भ्रमण कर रहा था, तब इच्छा करके विपत्ति के रास्ते से गया हूँ। कठिन रास्ते से। क्यों, जानते हो? मन में जब भी संशय उठता (कि ठाकुर रक्षा कर रहे हैं या नहीं), तभी उस प्रकार करते हुए उनकी परीक्षा लेता, मानो चैलेंज (चुनौती) देता। हर बार वे हँसते हँसते विजयी हुए हैं।

"पहाड़ में एक गाँव में, पहले एक घर में मैंने आश्रय लिया——एक गृहस्थ के घर। गाय-बछड़े सब एक ही कमरे में थे। सन्ध्या के बाद बाघ गरजने लगा। सब डर के मारे काँपने लगे। मैं धीरे धीरे उठ पड़ा। मन में विचार किया——क्या, मैं संन्यासी जो हूँ ! मुझे प्राणों का डर हो ? बाहर एक पेड़ के नीचे रात कट गयी !"

x　x　x

बाबा कह रहे हैं——"एक समय भाव, भक्ति कुछ अच्छी नहीं लगती थी। तब अद्वैततत्त्व का विचार चलता था। अकस्मात् देखा, ठाकुर दक्षिणेश्वर के कमरे में यशोदा और गोपाल की ओर ताकते हुए भावस्थ हैं, नेत्र अपलक हैं। वे गद्गद होकर मुझे पुकारकर कह रहे हैं——'देख, देख, कैसा भाव है !' देखा, गोपाल घुटनों के बल चलते हुए भाग रहा है और यशोदा हाथ में माखन ले पीछे पीछे पुकारती जा रही हैं——यह देखते देखते ठाकुर तन्मय हो गये हैं और अस्फुट स्वर में बीच बीच में कह उठते हैं, 'देख तो सही, कैसा भाव है'!

"हिमालय में हरगौरी की लीलाभूमि देखी थी——शिव और शक्ति, शिवशक्ति। शत शत गिरि-श्रृंग——मानो शत शत अनादि लिंग ! ध्यानमग्न शिवमूर्ति ! आदि लीलास्थल ! यहीं तो गौरी की तपस्या हुई थी, यहीं तो सब कुछ है।"

x　x　x

बाबा कह रहे हैं——"सीधे होकर बैठना चाहिए ——ऐसे 'समं कायशिरोग्रीवम्' । दीवाल से टिककर नहीं बैठना चाहिए, सामने की ओर झुककर भी नहीं । जो ब्रह्मचारी होते हैं, वे कभी टेढ़ा हो नहीं बैठ सकते । उनका मेरुदण्ड सीधा रहता है । देखो न, कैसे बैठता हूँ । पैर को हिलाना नहीं चाहिए, हाथ-पैर कुछ न हिलें । गुरुजनों के सामने स्थिर, विनम्र होना चाहिए ।"

आश्रम के कुछ ब्रह्मचारियों के सम्बन्ध में कह रहे हैं, "पैर बाँधकर सब ऐसे आते हैं, जिससे मालूम पड़ जाय । शाम को हिलेंगे-डुलेंगे, खाँसेंगे, बता देंगे कि हम आ गये हैं, हम हैं, इसी साल ब्रह्मचर्य-दीक्षा देनी होगी ! अरे बेटा, ब्रह्मचर्य क्या देना ? दो घण्टे स्थिर हो एकासन में जरा बैठ तो सही, उससे ब्रह्मचर्य अपने आप होगा । जो ब्रह्मचर्य की रक्षा करना चाहते हैं, वे रात में कम खाएँगे, दूध का स्पर्श भी नहीं करेंगे ।

"हम लोगों की बात और है, हम क्या मनुष्य हैं ? सिर्फ चाय पीकर, पेड़ की जड़ खाकर कितने दिन बिताये हैं । कभी शायद सिर्फ गेहूँ जुट पाया । यहीं पर पाँच महीने केवल भाजी खाकर बिताया है । शरीर की शिराएँ निकल आयीं——नीली मूर्ति बन गया ! डाक्टर ने कहा, 'और ज्यादा दिन ऐसा करने से फफोले निकलेंगे, शरीर से पीब निकलेगी । आप

तो तकलीफ पाएँगे ही, दूसरे भी पाएँगे।' तब कहीं भात खाना हुआ।--ने आनन्दाश्रुओं से भात राँधकर खिलाया। तब अकाल की भयंकरता काफी कम हो गयी थी--धान हुआ था। तभी से यह पेट की गड़बड़ी शुरू हुई, कुछ भी ठीक ढंग से हजम नहीं होता।"

x x x

सन्ध्या का समय। कैम्पखाट पर बैठे हुए बाबा एक भक्त से कह रहे हैं, "ओह, अपने दुःख की बात और मत कहो। क्या करूँ, किससे कहूँ (एक कोई उपाय निकाल देने के लिए)। ठाकुर, ठाकुर!

"देखो, कभी भी हार मत मानना। सैकड़ों दुःख आएँ, पर कभी सुख की प्रार्थना मत करना। वे मार सहाते सहाते ले जाते हैं। जब अति दुःख का समय आता, तो तुलसीदास का एक पद मन ही मन दुहराता रहता--'सुख में बाज पड़े दुःख रहो संग।' सुख प्रभु को भुला देता है, दुःख केवल उन्हीं का स्मरण कराता रहता है।"

अन्य एक दिन एक युवक-भक्त के प्रश्न के उत्तर में बाबा कह रहे हैं, "हाँ, यही उम्र है; अभी काम-क्रोध का वेग तो रहेगा ही और उसके पार जाने का उपाय करते समय भी रहेगा। जहाँ भी रहे और जहा भी रहूँ, बतलाना। समझा? सब दूर हो जायगा। यदि वह न जाय, तो इस सब का क्या

मतलब ?"

अन्य एक समय बाबा अपने ही आप कह रहे हैं (दूर में, पास में लोग हैं), "जिनकी भक्ति में दिखावा है, वह टिकती नहीं, वह दूसरों की देखादेखी या दूसरों के डर से नष्ट हो जाती है। पहले तो खूब चिपकेगा--'बाबा, बाबा', बाद में चुप; पुकारने से भी उत्तर नहीं देता। वह ठीक नहीं। जितनी भक्ति हो, रहे, अधिक दिखाकर क्या लाभ ? किसकी कैसी भक्ति है, वह तो देखने से ही समझ लेता हूँ !"

एक भक्त ने पत्र लिखकर पूछा है--"पहले गुरुमूर्ति का ध्यान करूँ या इष्टमूर्ति का ? कहाँ पर ध्यान करूँ ?"

बाबा बोले, "लिख दो--ठाकुर ही गुरु हैं, ठाकुर ही इष्ट हैं, इसमें फिर पहले और बाद में क्या ? हृदय में ध्यान करना ही उत्तम है--मानो उन्हें देख रहा हूँ आमने-सामने। फिर, वे मानो हृदय-मन्दिर में विराजमान हैं--मैं आकर देख रहा हूँ। जिनकी इच्छा हो, वे पहले दीक्षादाता गुरु का भी चिन्तन कर ले सकते हैं, यदि वैसी सुविधा हो। उसका कोई नियम नहीं है। उनका ध्यान ही असल है।"

गुरुपूर्णिमा को एक भक्त ने ठाकुर को खीर का भोग दिया है। दोपहर में वह स्वयं गुरुदेव के चरणों में पुष्पांजलि देने आया है। बाबा ने अभी ही स्नान किया है और वे कमरे में बैठकर इष्ट का चिन्तन

कर रहे हैं। पुजारी ने आकर खबर दी, "खीर का भोग बड़ा सुन्दर हुआ है।" भक्त द्वारा प्रदत्त पुष्पांजलि को स्वीकार कर बाबा हँसते हँसते शुद्ध बंगभाषा के उच्चारण की नकल करते हुए बोले, "सुबुद्धि का उदय हुआ!" तत्पश्चात् और भी दो-एक लोगों के पुष्पांजलि देने पर वे बोले, "(आश्रम के) ये लोग यह सब नहीं जानते!"

सन्ध्या का समय। महाराज कैम्पखाट में लेटे हुए हैं। बहुत देर तक कोई बातचीत न होने से भक्त ने गुरुपूर्णिमा के सम्बन्ध में ही कोई प्रश्न किया। बाबा बोले, "क्यों, कैसा वृत्तान्त? मैं तो नहीं जानता। देखना पड़ेगा, सब है तो--कब से शुरू है--कितने दिन से। इसी समय चातुर्मास्य शुरू होता है, सब गुरु के पास आते हैं। पश्चिम (उत्तरप्रदेश) में बड़ी धूम रहती है, इधर उतना प्रचलन नहीं। हिमालय में तीर्थों में घूमता फिरता, तिथि-नक्षत्र कुछ मालूम न रहता, पर साल में एक दिन का हिसाब रखता--शिवरात्रि के बाद की द्वितीया (ठाकुर की जन्मतिथि) का, उस दिन उपवास करता--बस। दिन, महीना और साल कहाँ से आता और कहाँ से निकल जाता!"

x x z

एक आगन्तुक (भक्त ?) ने हाथ उठाकर माथे से लगाकर प्रणाम किया। बाबा ने उसे डाँट लगायी और उसी सन्दर्भ में कह रहे हैं, "प्रणाम क्या था,

फरसा मार रहा था, मानो बलि दे रहा हो। साधु-संन्यासी को प्रणाम करना भी नहीं जानता। प्रणाम के भी कितने प्रकार हैं---तुम लोग क्या जानो? 'जानुभ्यां च तथा पद्भ्यां उरसा शिरसा धिया।' खड़े होकर प्रणाम अग्राह्य होता है। कितने लोगों को सिखाना पड़ा है। प्रणाम के फिर नियम भी कितने हैं। लेटे होने पर, या चलते समय, या तेल लगवाते समय अथवा जब अन्यमनस्क हो तब प्रणाम नहीं करना चाहिए। अशौच या अस्वस्थता में भी प्रणाम नहीं करना चाहिए। आजकल कोई तो फरसा-प्रणाम करता है या फिर कोई भक्ति के अतिरेक में जब-तब, जहाँ-तहाँ प्रणाम करता है। कोई जानता नहीं यह सब। इस बार मठ में लेटा हुआ था, दोपहर २ बजे होंगे। न बताये न कहे एक व्यक्ति आया और पैर में हाथ लगा उसने प्रणाम किया। मैं तो चौंक पड़ा। बोला---लोगों को तुम लोग शिक्षा दे रहे हो, पर तुम्हारी अपनी इतनी शिक्षा हुई नहीं कि लेटे हुए व्यक्ति को प्रणाम नहीं करना चाहिए? बाद में मैं उठ बैठा और बोला---लो, अब एक बार अच्छी तरह प्रणाम करो।"

x x x

एड़ोवानी गाँव के एक मुसलमान भक्त ने पत्र लिखा है---बहू का देहान्त हो गया, अत्यन्त शोक-सन्तप्त हूँ, यदि किसी को भेज सकें, तो शान्ति मिल

सके,...आदि। बाबा पत्र सुनकर बड़े मर्माहत हुए, बोले, "अहा, इस बूढ़ी उम्र में बड़ा शोक मिला! उस अकाल के समय ४० साल पहले एक बार देखा था, अब भी लिखता है। कैसी शुद्ध भाषा लिखता है —'आपका स्नेहप्रद पत्र पाकर आनन्दित होऊँगा!' पहले एक बार लिखा था—'आपका ध्यान करता हूँ, उससे मन को बल मिलता है, सेवाशक्ति का संचार होता है।' यहाँ स्वयं आना नहीं चाहता या मुझे भी जाने के लिए नहीं कहता। कहता है—'उस तरुण संन्यासी का रूप ही मेरे मन पर अंकित है, वही अच्छा है।' राढ़ इलाके के खेत हैं, धान की मानो लहर खेलती रहती है। एक बार हो आओ न तुम सब। शोक-सन्ताप मिला है, उसे खुशी होगी। साथ म मैजिक लालटेन, स्लाइड आदि ले जाना, प्रचार-कार्य भी होगा।"

x x x

पुरानी बातों के प्रसंग में एक दिन कहने लगे, "दिल्ली में शाम को एक पार्क में बेंच पर बैठा हुआ था। मनोभाव यह था कि ठाकुर का भक्त न हो तो किसी के घर पर नहीं ठहरूँगा। दो मारवाड़ी बंगाली साधू देखकर बाजू में आकर बैठे। इधर उधर की बातें हुईं, फिर वे रुपया देने लगे। मैंने कहा, 'नहीं'। तब कहा, 'दक्षिणेश्वर में रामकृष्ण परमहंस को एक बार रुपया देने गया था, तो वे चिल्ला पड़े थे।' तब

परिचय हुआ--वह था वही लक्ष्मीनारायण मारवाडी ।"

एक दिन सन्ध्या के समय बड़े कमरे में बाबा की आँख में दवा डाली जा रही है, एक वयस्क साधू डाल रहे हैं। कुछ क्षण बाद बाबा बोले, "किस ओर दे रहे हो ? बायीं ओर, न पीड़ा दाहिनी ओर है ?" साधू ने जोर देकर कहा, "आप गलती कर रहे हैं--पीड़ा बायीं ओर है।" बाबा ने कुछ कठोर स्वर में कहा, "मैंने गलत नहीं कहा; हम लोग वैसा भूल नहीं करते।" तब साधू नरम होकर बोले, "हम लोग तो सीखने आये हैं, आशीर्वाद दीजिए।" बाबा और भी नरम होकर बोले, "सो कहो, आशीर्वाद तो दे ही रहा हूँ। बस, यही कामना है कि आशीर्वाद देते देते देते ही जा सकूँ।"

x x x

आश्रम का एक अन्तेवासी दीक्षित है, ब्राह्मण है, अभी छात्रावस्था है। उसकी धारणा है कि चूँकि मेरी दीक्षा हो गयी है इसलिए सन्ध्या-गायत्री-यज्ञोपवीत किसी की भी आवश्यकता नहीं है। जब यह बात बाबा के कान में गयी, तो वे रुष्ट हो उठे, बोले, "नहीं जानता था कि--ने जनेऊ फेंक दी है। वह कैसी बात ! ब्राह्मण का लड़का होकर ! ठाकुर ने मन्मथ को जनेऊ दी थी। स्वामीजी कितने लोगों को जनेऊ पहना गये हैं। और यहाँ यह क्या काण्ड

हो गया ! आज ही उससे कहता हूँ ।"

x   x   x

बाबा कमरे में लटे हुए हैं । सन्ध्या का धूमिल अन्धकार छाया हुआ है । एक भक्त आकर दरवाजे के पास खड़ा है । लगता है बाबा की किसी आज्ञा की प्रतीक्षा में है । बाबा ने पूछा, "कौऽऽन ? तेरे शरीर पर कौनसा कपड़ा है रे ? सफेद, न गेरुआ ? मैंने देखा कि कौन एक गेरुआधारी ठीक तेरी जगह खड़ा है । सिर तेरे ही समान था, पर जरा मोटा-ताजा था । मणि* घर में नहीं है क्या ?"

x   x   x

वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ के बीतने के बाद श्रावण भी समाप्त होने को है । तीन महीने तीन दिन के समान बीत गये ! कलकत्ते से बारम्बार पत्र आ रहा है--अबकी बार भक्त को लौटना होगा । बाबा की इच्छा है कि वह और भी कुछ दिन बिता जाए । एक दिन ठाकुर को पक्का भोग देने की बात हुई है । एक रविवार को बहरमपुर के भक्त लोग आएँगे, ठाकुर को राधावल्लभी, छेने का बड़ा आदि भोग में दिया जायगा, पर वर्षा लगी ही हुई है । अन्त में भक्त ने कहा--अभी चलूँ, पक्के भोग के समय आ जाऊँगा ।

ले-देकर बाबा राजी हुए । वह बुधवार का

---

*स्वामी अन्नदानन्द ।

दिन था। सुबह से स्नान आदि से निवृत्त हो भोजनादि करके भक्त जाने के लिए तैयार हो गया। वह बाबा को प्रणाम करने गया। बाबा ने बातें आरम्भ कीं, कितनी बातें बाबा ने बतलायीं। उनमें से कुछ यों हैं :—

"यदि सचमुच भगवान् को पाना चाहते हो, तो वहाँ जाने से तुम्हें शान्ति नहीं मिलेगी। जिस प्रकार के surrounding (वातावरण) में रहोगे, मन भी उसी प्रकार का हो जायगा। साधुओं के साथ रहने से साधू, संसारियों के साथ रहने से संसारी। जो विवाह नहीं करेंगे, वे किसलिए संसार में रहेंगे? माता-पिता के पास जीवन के इतने वर्ष बीत गये! मेरे पास क्या और एक वर्ष नहीं बिताना चाहिए? अच्छा, ठीक है, जा रहे हो तो अभी जाओ, बुलाने से पुनः आना पड़ेगा। और जब जो कहा है, वह सारी बातें याद रखना। वह common sense (साधारण बुद्धि) वाली बात याद है तो? जब जिसे जानने की जरूरत हो, पूछ-पूछकर जान लेना। अब सबके सामने सारी बातें नहीं कहूँगा।"

दस बजे वाली गाड़ी की सीटी बज उठी। धड़-धड़ करती हुई ट्रेन आ रही है—आश्रम से दिखायी दे रहा है। भक्त जल्दी से प्रणाम कर रवाना होना चाहता है—दौड़कर ट्रेन पकड़ेगा। बाबा हँस रहे हैं और कह रहे हैं, "इस ट्रेन में तुम जा चुके!"

जाना नहीं हुआ। कुरता-कपड़ा आदि पहनकर

यात्रा के लिए वह रवाना तो हो ही चुका था। अतः वह वैसा ही बैठा रहा। शाम की गाड़ी से वह जाएगा ही। जब वह बाबा को प्रणाम करने गया, तो वे जोरों से हँसे। बोले, "कहाँ जाओगे ? देखते नहीं, ठाकुर जाने नहीं दे रहे हैं ?" अन्त में कहा, "अच्छा, जाओ। पक्के भोग के समय आना होगा।"

x x x

कलकत्ता लौटकर भी भक्त का निस्तार कहाँ? फिर से कब जायगा, कब पक्का भोग होगा, इसी सब चिन्ता से घिर गया। दो-तीन सप्ताह बाद पत्र आ गया—'अगले रविवार को पक्के भोग की बात तय है, पर बारिश लगी हुई है।' भक्त को डर लगा कि पक्का भोग फिर कहीं कच्चा न हो जाय। पर पक्का भोग तो कच्चा नहीं हुआ, हाँ, भक्त का जाना अवश्य कच्चा हो गया। जिस शनिवार की रात वह सियालदह स्टेशन से सारगाछी के लिए गाड़ी पकड़ता, उसी शनिवार की रात्रि वह हावड़ा स्टेशन से काशी का यात्री बना।

भक्त ने काशी से बाबा के लिए अन्नपूर्णा और विश्वनाथ का निर्माल्य भेजा। कुछ दिन बाद ठाकुर के पक्के भोग के प्रसाद के साथ आशीर्वादी पत्र आया, "यहाँ से जाकर माँ को लेकर काशी गये हो—बड़े सौभाग्य की बात है। पक्के भोग के दिन तुम्हारा न आना अच्छा ही हुआ। . . .माता-पिता को असन्तुष्ट

नहीं करना चाहिए। गुरुकृपा से संसार-बन्धन कट जायगा।"

कलकत्ता लौटने पर महालया के दिन भक्त को बाबा का एक पत्र मिला। उन्होंने लिखा था--"मेरा स्वास्थ्य खराब है। शीघ्र एक बार देख जाओ।"

नवरात्रि का पक्ष। भक्त पुनः अपने चिरवांछित चरणप्रान्त में पहुँचकर आनन्दसागर में डूब गया।

अक्तूबर, १९३६। भक्त के प्रणाम करके उठने पर बाबा बोले, "आज भोर के समय सोच रहा था--'स्मृतिकथा' कौन लिखेगा? क्या देखता हूँ कि तू आकर खड़ा है।" कुछ बाद बोले, "काम से लग जा; तुम्हें काम का आदमी बना दूँगा (यह कह पीठ पर एक थप्पड़ मारा)--तुम्हारा भी काम, मेरा भी काम।"

दूसरे दिन से काम शुरू हो गया। जमीन पर आसन बिछा डेस्क पर लिखते लिखते भक्त ने बाजू में किसी से जरा सी कोई बात की। बाबा ने वह सुन ली। धीरे धीरे पीछे आकर वे रहे हैं, "काम के समय बात करना नहीं, सुनना भी नहीं। स्वामीजी एक दिन अखबार पढ़ रहे थे, मैं जोर से बुला रहा था। वे दत्त हो पढ़ रहे थे। अन्त में बोले, 'मेरे मन कितने हैं?' जिस समय जो करोगे, उस समय सारा मन उसी में ढाल देना। तब बातचीत सब बन्द।'

'स्मृतिकथा' की पाण्डुलिपि तैयार हो रही है--

प्रेस में जाएगी। 'वसुमती' (बँगला मासिक) के साथ पत्राचार हो गया है। भक्त ने इतना कहा-- पाण्डुलिपि 'उद्बोधन' (रामकृष्ण संघ का बँगला मासिक) में क्यों नहीं जाएगी? बाबा बोले-- 'उद्बोधन' तो हमारा है ही, 'वसुमती' भी हमारी है। उपेनबाबू* ठाकुर के कितने भक्त थे! 'वसुमती' ही तो हम लोगों की पहली पत्रिका थी, उसके बाद 'उद्बोधन' आया।

* उपेन्द्रनाथ मुखर्जी श्रीरामकृष्ण के विशेष भक्त थे तथा 'वसुमती' के संस्थापक-प्रकाशक।

बंदउँ लछिमन पद जल जाता

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने दिल्ली के बिड़ला लक्ष्मी-नारायण मन्दिर में 'लक्ष्मण-चरित्र' पर ४ से ११ अप्रैल, १९७३ तक आठ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख इस क्रम का प्रथम प्रवचन है।

टेप से प्रवचनों को उतारने का श्रमसाध्य कार्य श्री नन्द किशोर स्वर्णकार ने किया है, जो दिल्ली की सालिड स्टेट फिजिक्स लेबोरेटरी में कार्यरत हैं। उनकी इस बहूमूल्य सेवा के लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।—स०)

गोस्वामी तुलसीदासजी श्री लक्ष्मणजी की वन्दना करते हुए कहते हैं—

बंदउँ लछिमन पद जल जाता ।
सीतल सुभग भगत सुख दाता ॥
रघुपति कीरति बिमल पताका ।
दंड समान भयउ जस जाका ॥
सेष सहस्र सीस जग कारन ।
जो अवतरेउ भूमि भय हारन ॥
सदा सो सानुकूल रह मो पर ।
कृपासिंधु सौमित्रि गुनाकर ॥ १।१६।५।८

लोग लक्ष्मणजी के चरित्र तथा व्यक्तित्व में विरोधाभास देखते हैं। गोस्वामीजी की दृष्टि में भी यह विरोधाभास था और इसी के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने श्री लक्ष्मणजी की वन्दना का थोड़ा अधिक

विस्तार किया। उनकी वन्दना में उपर्युक्त चार पंक्तियों का उपयोग किया गया है, जबकि भरतजी की वन्दना में दो हो पक्तियाँ लिखी गयी हैं---

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना।
जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥
राम चरन पंकज मन जासू।
लुवुध मधुप इव तजइ न पासू॥ १।१६।३-४

शत्रुघ्नजी की वन्दना भी एक पंक्ति में कर ली गयी---

रिपुसूदन पद कमल नमामी।
सूर सुसील भरत अनुगामी॥ १।१६।९

भगवान् श्री राम की वन्दना भी दो पंक्तियों में की गयी---

पुनि मन बचन कर्म रघुनायक।
चरन कमल बंदउँ सब लायक॥
राजिवनयन धरें धनु सायक।
भगत बिपति भंजन सुखदायक॥ १।१८।९-१०

अतः लक्ष्मणजी की वन्दना में चार पंक्तियों के प्रयोग का क्या तात्पर्य है? गोस्वामीजी उनकी वन्दना का इतना विस्तार क्यों करते हैं? वस्तुतः इस विस्तार का एक सांकेतिक अर्थ है। इन पंक्तियों में गोस्वामीजी ने लक्ष्मणजी का जो तात्त्विक पक्ष है, उसे भी जोड़ दिया है। श्री भरत की वन्दना में उनके व्यक्तित्व, उनके सन्तत्व की वन्दना है, पर श्री लक्ष्मण की वन्दना में मात्र उनके व्यक्तित्व या चरित्र की वन्दना नहीं है, बल्कि उसके साथ साथ गोस्वामीजी ने उनके आध्या-

त्मिक रूप को भी प्रस्तुत कर दिया है। और प्रारम्भ में ही उनके आध्यात्मिक रूप के संकेत देने का एक विशेष तात्पर्य है। श्री लक्ष्मणजी के चरित्र को लेकर जो एक प्रकार से भ्रान्त भाव बनता है, जो ऐसा जान पड़ता है कि वे वीर और योद्धा होते हुए भी मर्यादा का अतिक्रमण कर जाते हैं, आवेश में आ जाते हैं, ऐसी भूल धारणा का निराकरण करने के लिए ही गोस्वामीजी श्री लक्ष्मण के तात्त्विक रूप को प्रारम्भ में ही प्रस्तुत कर देते हैं। श्री लक्ष्मणजी की वन्दना की प्रथम दो पंक्तियाँ उनके चरित्र की वन्दना है। तीसरी पक्ति एक विशेष उद्देश्य से रखी गयी है। भरतजी का परिचय देने के लिए गोस्वामीजी को यह बताने की आवश्यकता नहीं थी कि श्री भरत अपने मूल तात्त्विक रूप में क्या हैं। पर लक्ष्मणजी का परिचय देने के लिए यह स्पष्ट किया गया कि उनके तात्त्विक स्वरूप को समझ लेने के बाद ही हम उनके चरित्र के प्रति ठीक ठीक न्याय कर सकते हैं। जिस सूत्र के आधार पर गोस्वामीजी लक्ष्मणजी के चरित्र का विस्तार और विश्लेषण करते हैं, उसे प्रारम्भ में ही प्रस्तुत कर देना मैं उचित समझता हूँ।

वस्तुत: जो भक्त का पक्ष है, वह दर्शन, भावना और चरित्र इन तीनों का समन्वय है। लक्ष्मणजी का चरित्र मूलत: शेष का आध्यात्मिक स्वरूप प्रस्तुत करता है, पर चरित्र के रूप में इसमें भावना और चरित्र के

अनुपम तत्त्व भी विद्यमान हैं। इसे यों भी कह सकते हैं कि ज्ञान और भक्ति में जो अन्तर है, वह कारण और फल का अन्तर है। ज्ञान या विचार या दर्शन का जो केन्द्र है, वह सृष्टि के मूल का, उसके कारण-तत्त्व का अन्वेषण करता है। भक्त भी उस कारण की चर्चा तो करता है, पर उसके करने की पद्धति दूसरी है। इसे यों समझें—एक आम का वृक्ष है; आम्रवृक्ष के मूल में क्या है यह तो विचार की परम्परा है, पर आम का जो परिणाम है, जो फल है, उसका शोध भक्ति की परम्परा है। लेकिन विचित्र बात यह है कि जो मूल में होता है, वही परिणाम में भी होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो आम्रवृक्ष लगाया गया, उसके मूल में भी आम की गुठली ही है, और जब इस वृक्ष का परिणाम फल के रूप में मिलेगा, तो उसमें भी आम की गुठली ही होगी। तो, जो मूल कारण के रूप में विद्यमान है, वही फल के रूप में विद्यमान है। पर भक्त लाभ में रहा। जिस व्यक्ति ने गुठली की खोज की, उसने आम की उत्पत्ति का विज्ञान तो जान लिया, पर जिसने आम के फल को खोजा, उसने आम का कारण तो पाया ही, साथ में रस की भी प्राप्ति कर ली। गुठली रस नहीं देती, पर आम का फल गुठली और रस दोनों एक साथ देता है। यही भक्ति की परम्परा है। तभी तो काक-भुशुण्डिजी लोमशजी से कहते हैं कि मुझे ज्ञान नहीं

चाहिए, मैं तो भक्ति चाहता हूँ। भक्ति की आवश्यकता ज्ञान की विरोधी नहीं है। वे सांकेतिक रूप से कहते हैं कि मुझे श्री राम की बालक्रीड़ा चाहिए, मुझे अयोध्या के श्री राम अच्छे लगते हैं---

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा।
तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा ॥ ७।११०।११

और इसका परिणाम क्या होता है ? गोस्वामीजी उत्तरकाण्ड में बतलाते हैं कि भुशुण्डिजी बालक राम के साथ खेलने में रस तो लेते हैं, पर खेल ही खेल में भगवान् राम उन्हें एक दिन समस्त वेदान्त के तत्त्वज्ञान का दर्शन करा देते हैं। इस प्रकार, मूल और परिणाम की दृष्टि से विचार करना ज्ञान और भक्ति की परम्परा का भेद है।

तो, गोस्वामीजी ने 'रामचरितमानस' में लक्ष्मणजी का चरित्र एक मीठे फल के रूप में प्रस्तुत किया है, पर इसके साथ ही उसके मूल में जो कारण है, उसका उल्लेख भी उन्होंने अवश्य कर दिया है। यह मूल कारण लक्ष्मणजी के तात्त्विक रूप को प्रकट करता है, जिसे हम अभी देखने का प्रयास करेंगे। लक्ष्मणजी का परिचय देते हुए कहा गया है---'जो शेष हैं, सहस्रशीर्ष हैं, सृष्टि के कारण हैं और संसार के भार का हरण करने के लिए अवतरित हुए हैं, उन लक्ष्मण की मैं वन्दना करता हूँ और मैं प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरे ऊपर कृपा करें।' इसमें भक्ति का पक्ष है कृपा

और रस की उपलब्धि, तथा अध्यात्म का पक्ष है 'सेष सहस्र सीस जग कारन'। तो, मैं अध्यात्म पक्ष से ही प्रारम्भ करूँगा। शुष्कता से प्रारम्भ करना ठीक है, जिससे बाद में शुष्कता का बोध न हो।

लक्ष्मणजी का परिचय देते हुए कहा गया है कि वे सहस्रशीर्ष शेष हैं और जगत् का कारण हैं। जगत् के कारण को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि जब सृष्टि नहीं थी, तब क्या था ? हमें सृष्टि तो दिखायी देती है, पर उसका आदि और अन्त दिखायी नहीं देता। हम केवल मध्य को ही देख पाते हैं। यदि हम इस दृश्यमान संसार के आदि और अन्त को जान सकें, तो सम्भव है सृष्टि की बहुतसी समस्याओं का समाधान हमें प्राप्त हो जाय। पुराणों में कहा गया है कि आदि में केवल जल ही जल था और उस जल में भगवान् शेषशय्या पर शयन कर रहे थे तथा लक्ष्मीजी चरणों में बैठी थीं। इस प्रकार तब केवल नारायण, लक्ष्मी और शेष ये ही तीनों थे। शेष को कालतत्त्व कहा जाता है, जो नारायण के सुप्त होते हुए भी सदा जाग्रत् है। अभिप्राय यह है कि जब सृष्टि नहीं है, तब भी नारायण हैं, पर वे सुषुप्त हैं। किन्तु जो कभी नहीं सोता, निरन्तर जाग्रत् और चैतन्य है, वह है सहस्रशीर्ष शेष।

इस दृष्टान्त को व्यक्ति अपने जीवन के माध्यम से भी समझ सकता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में

एक नित्य प्रलय की अनुभूति होती है। जब हम सोते हैं, तो उस समय एक प्रलय-सा ही हो जाता है। जैसे प्रलय में सृष्टि का अभाव होता है, वैसे ही हमारी सुषुप्ति अवस्था में हमारे लिए सृष्टि कुछ नहीं होती, हमारा संसार लुप्त हो जाता है। न वहाँ व्यक्ति है, न परिवार, न अन्य सम्बन्ध; उस समय किसी बात की अनुभूति नहीं होती। पर उस समय भी दो वस्तुएँ व्यक्ति के साथ रहती है---एक तो उसकी क्षमताएँ, उसकी शक्ति और दूसरी, काल। इसे यों समझें। जैसे, एक वक्ता है। जिस समय वह शयन करेगा, उस समय भले ही वह भाषण नहीं दे रहा होगा, पर उसकी वक्तृत्व-शक्ति तब भी उसके साथ होगी; वह वक्तृत्व-शक्ति प्रत्यक्ष दिखायी न देती हुई भी उसके अन्तस्तल में शान्तभाव से विद्यमान होगी। इसी प्रकार, जब व्यक्ति को नींद आती है, तो उसे भय की अनुभूति नहीं होती। क्यों ? प्रलय की बात सुनकर तो लोग घबरा जाते हैं। कुछ वर्ष पूर्व जब अष्टग्रही का योग आया था, तो लोग प्रलय के भय से आतंकित हो गये थे। उस समय मैं कलकत्ते में था। जहाँ मैं सोया हुआ था, वहाँ के नौकर रात में मकान में नहीं रुके, वे जाकर बाग में सोये। मैंने जब पूछा कि मकान के रहते तुम लोग बाग में जाकर क्यों सोओगे, तो वे बोले, "मकान गिर पड़ेगा तो प्रलय में ?" मैंने कहा, 'वहाँ भी तो प्रलय हो सकता है।" उन्होंने उत्तर दिया, "पर

बाग में कम से कम दबने का तो डर नहीं है !" अभिप्राय यह है कि प्रलय के नाम से ही व्यक्ति काँपने लगता है। पर जब वह अपने जीवन में प्रतिदिन प्रलय में जाता है, तो उसे भय की अनुभूति नहीं होती। इस अन्तर का कारण क्या ? कारण यह है कि नींद में जाते हुए भी व्यक्ति को काल का स्मरण बना रहता है, वह जानता है कि वह सो रहा है और जब जागेगा, तो जिन वस्तुओं को छोड़कर वह नींद में जा रहा है, वे उसे पुनः प्राप्त हो जाएँगी। व्यक्ति के अन्तस्तल में यह जो धारणा है कि हम सोने के बाद फिर से उठेंगे, वही उसे आश्वस्त करती है। आपने काल के इस निश्चय का अनुभव अपने जीवन में कई बार किया होगा। कई लोग कहते हैं--मैं तकिये से कहता हूँ कि मुझे ४ बजे जगा देना, तो मुझे जगा देता है। इसका क्या तात्पर्य ? तकिया भला क्या जगाएगा ? वह व्यक्ति वस्तुतः काल से अनुरोध करता है कि मुझे जगा देना। व्यक्ति जानता है कि उसके सो जाने पर भी काल नहीं सोता, सदा जागता रहता है। यह कालतत्त्व ही हमारे अनुरोध पर हमें सोते से जगा देता है। यह जैसे एक व्यष्टि का अनुभव है, वैसे ही इसे यदि समष्टि के, सृष्टि के सन्दर्भ में देखें, तो हम पाएँगे कि जब सृष्टि नहीं होगी, तब भी ईश्वर होगा, उसकी शक्ति होगी और शेष के रूप में काल होगा। यह शेष ही आज लक्ष्मणजी के रूप में अवतरित होते हैं। गोस्वा-

मीजी ने पहल ही संकेत कर दिया कि देखो, काल से अगर कुछ डर लगे, तो कोई आश्चर्य नहीं है--लक्ष्मणजी का चरित्र यदि कुछ घबराहट पैदा करे, तो स्वाभाविक बात है। व्यक्ति काल को भला कहाँ उतनी सरलता से स्वीकार कर पाता है ?

इसीलिए 'मानस' में गोस्वामीजी जब सृष्टि के कारणों का उल्लेख करते हैं, तब भगवान् श्री राम, श्री सीताजी तथा श्री लक्ष्मण इन तीनों का वर्णन करते हैं। जब भगवान् राम का वर्णन करते हैं, तो कहते हैं कि--

पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन।
कृपासिंधु मतिधीर अखिल बिस्व कारन करन।।
१।२०८।ख

--वे समस्त विश्व के कारण और करण हैं। लक्ष्मणजी के लिए कहते हैं--

सेष सहस्र सीस जग कारन। १।१६।७

और यही बात सीताजी के लिए भी कहा गयी है--

आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया। १।१५१।४

इसका अभिप्राय यह है कि सृष्टि के निर्माण में तीन ही वस्तुएँ होंगी--ईश्वर होगा, उसकी शक्ति होगी और काल होगा। अगर सामर्थ्य न हो, तो सृष्टि का निर्माण कैसे होगा ? निर्माता ईश्वर न हो, तो शक्ति का प्रयोग कौन करेगा ? फिर, जब ईश्वर शक्ति का प्रयोग करता है, तो वह चामत्कारिक दृष्टि से नहीं करता, बल्कि कालक्रम से करता है। जैसे,

हमने आम का बीज लगाया, तो चमत्कार से कोई आम का वृक्ष खड़ा नहीं हो जायगा, बल्कि उसमें क्रम से विकास होगा, वह पहले अंकुरित होगा, फिर उसमें से पौधा फूटेगा और इस प्रकार कालक्रम से उसमें से आम के वृक्ष का विस्तार होगा। अभिप्राय यह है कि सृष्टि के मूल में काल, शक्ति और ईश्वर तीनों ही विद्यमान हैं और ये क्रमशः श्री लक्ष्मण, श्री सीता और श्री राम के रूप में अवतरित होते हैं। ईश्वर और शक्ति के मध्य में काल की भूमिका है और इस काल को शेष कहकर पुकारा गया है। यानी लक्ष्मण शेष हैं। 'शेष' का अर्थ होता है 'बचा हुआ'--सब कुछ मिट जाने के बाद भी जो बचा रहता है, उसका नाम है शेष।

एक मीठा-सा व्यंग्य 'रामचरितमानस' में आता है। परशुराम श्री लक्ष्मण को बालक के रूप में देखते हैं। आज भी बहुत से लोग लक्ष्मणजी और उनके चरित्र को समझ नहीं पाते। इसका कारण यह है कि हम वह नहीं देखते, जो लक्ष्मणजी यथार्थ में हैं। नाटक में किसी की भूमिका के साथ आप न्याय तभी कर सकते हैं, जब आप उसकी भूमिका को सही अर्थ में समझें। श्री लक्ष्मण की भूमिका को बहुत कम लोग समझ पाते हैं और इसलिए कभी कभी उनके चरित्र मे बड़ा विरोधाभास जान पड़ता है। और यह काल है भी बड़ा विरोधाभासी। काल से सृष्टि का

उदय होता है, काल में सृष्टि स्थित होती है, फिर काल से ही सृष्टि समाप्त भी होती है। जो सृष्टि को बनाता है, वही बिगाड़ता भी है। बनाना तो सबको अच्छा लगता है, पर बिगाड़ना भला किसको अच्छा लगेगा ? काल अपनी प्रकृति से बाध्य है, वह निर्माण और ध्वंस दोनों करेगा। लक्ष्मणजी के चरित्र का यही तत्त्व सामान्यतया उनके विरोधाभास को प्रकट करता है। यही कारण है कि जब लक्ष्मणजी बोलते हैं, तो साधारणतया व्यक्ति को लगता है कि यह बालक कितना ढीठ है। परशुरामजी को भी ऐसा लगा। हम लोग परशुराम को भी अवतार मानते हैं और उनके लिए कहते हैं कि वे पूर्णावतार नहीं, आवेशावतार हैं। आवेशावतार कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे आपको किसी समय तीव्र उत्साह आ जाय और उस आवेश में आप बड़े से बड़ा काम कर लें, वैसे ही परशुरामजी को बीच बीच में ईश्वरीय आवेश आ जाया करता है और जब वह आवेश समाप्त हो जाता है, तो वे एक महात्मा-मुनि के रूप में रह जाते हैं। एक ओर वे खड़े हैं और दूसरी ओर हैं भगवान् राम, जो साक्षात् पूर्णावतार हैं, शाश्वत ईश्वर हैं। इन दोनों के बीच में संघर्ष की स्थिति है---राम से राम का युद्ध है, प्रकाश से प्रकाश का युद्ध! अन्धकार और प्रकाश का संघर्ष तो समझ में आता है, पर यह विचित्र है कि प्रकाश और प्रकाश में भी

संघर्ष होता है। और यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि रावण से भगवान् राम का संघर्ष तो बाद में हुआ, पर पहले परशुराम से संघर्ष होता है। इसका अभिप्राय यह है कि केवल रोग ही समस्या नहीं है, दवा भी समस्या है। शरीर में रोग होने पर लोग दवा लेते हैं और उसके पश्चात् कहते हैं कि रोग तो अच्छा हो गया, पर दवा की प्रतिक्रिया का रोग उत्पन्न हो गया है! दवा के द्वारा रोग मिटे यह चेष्टा तो रहती है, पर साथ ही यह भी प्रयत्न रहता है कि दवा की प्रतिक्रिया का शमन कैसे हो। इसीलिए आयुर्वेद शास्त्र में जो परम्परा है, उसमें औषध के साथ अनुपान की व्यवस्था है। यह अनुपान औषध की प्रतिक्रिया के उपशमन क लिए होता है। उदाहरणार्थ, एक औषध में तीव्र ताप है, उष्णता है। रोग के निवारण के लिए जितनी उष्णता चाहिए, उससे कहीं अधिक उष्णता उसमें है। इस अतिरिक्त उष्णता के उपशमन के लिए अनुपान की व्यवस्था की जाती है। तो, परशुराम आये थे दवा बनकर और बाद में वे रोग बन गये। अभिप्राय यह कि दवा के रूप में पाप को मिटाने के लिए परशुराम आये। और जब पाप के मिटने के फलस्वरूप पुण्य आया, तो पुण्य भी बीमारी हो गयी।

किसी ने गोस्वामीजी से पूछा कि श्री राम के अवतार के पहले परशुराम का अवतार तो था ही,

फिर इस नय राम की क्या आवश्यकता थी ? परशुराम में सामर्थ्य की तो कोई कमी थी नहीं। गणित के क्रम से भी देखें, तो श्री राम की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि सहस्रार्जुन ने रावण को हराया और सहस्रार्जुन को परशुराम ने हरा दिया। जब परशुराम सहस्रार्जुन को हरा सकते थे, तो रावण को हराना उनके लिए कठिन क्यों होता ? फलतः श्री राम के अवतार की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसके उत्तर में गोस्वामीजी ने दृष्टान्त दिया नदी का। अग्नि को बुझाने के लिए जल आवश्यक है और जल नदी में है, पर नदी भी तो समस्या बन जाती है। यह ठीक है कि नदी के जल में स्नान करके मनुष्य स्वच्छ होता है, वस्त्रों को धोकर साफ करता है, लेकिन नदी में यदि बाढ़ आ जाय, तो वही जीवन के स्थान पर मृत्यु का सन्देश लेकर आती है। गोस्वामीजी कहते हैं कि परशुराम नदी बनकर आये। और भगवान् राम कब आये ? जब इस नदी में बाढ़ आ गयी तब। वे लिखते हैं--

घोर धार भृगुनाथ रिसानी।
घाट सुबद्ध राम बर बानी।। १।४०।४

--जैसे बाढ़ आने पर बाँध बाँध देते हैं, ऊँचा घाट बना देते हैं, उसी प्रकार परशुराम-चरित्र की जीवनदायिनी नदी में जब क्रोध की बाढ़ आ गयी, तो श्री राम घाट बनकर आये। तो, एक ओर

वेगवती, क्रोधवती नदी की तेज धारा के समान परशुराम का आवेश है, तो दूसरी ओर धनुष तोड़ने के बाद भी श्री राम में अभिव्यक्त प्रशान्ति है। दोनों रामों की यहीं तुलना हो गयी। होना तो यह चाहिए था कि धनुष तोड़ने के बाद श्री राम आवेश और गर्व से भरे होते कि मैंने इतना बड़ा काम कर दिया। पर यह बड़ी अद्‌भुत बात है कि जिसने इतना बड़ा काम किया, वह शान्त खड़ा है।

किसी ने गोस्वामीजी से कहा कि परशुरामजी की नदी में श्री राम घाट बनकर आ गये, तो श्री राम के लिए भी तो किसी को आना था? गोस्वामीजी ने कहा कि परशुराम नदी हैं, तो श्री राम समुद्र हैं। नदी की बाढ़ रोकने के लिए तो घाट बना लीजिए, पर समुद्र में बाढ़ कहाँ आती है? समुद्र तो अपने आप में पूर्ण है। भाव यह है कि एक-दो घण्टा वर्षा होने से भले नदी में बाढ़ आ जाय, पर समुद्र में तो अनादि काल से जाने कितनी नदियाँ प्रतिक्षण गिर रही हैं, फिर भी वह ज्यों का त्यों है। यही अपूर्ण और पूर्ण का अन्तर है। परशुराम की सामयिक सफलता ने उनमें बाढ़ ला दी, पर श्री राम पूर्ण थे, इसलिए सफलताओं की कितनी भी नदियाँ जाकर उनमें गिरें, उनके व्यक्तित्व में कोई अन्तर पड़नेवाला नहीं था। धनुष का टूटना श्री राम के लिए कोई महत्त्व नहीं रखता था। भगवान् उसे

दूसरी ही दृष्टि से देखते हैं। वे तो कालतत्त्व के द्वारा ही सृष्टि का संचालन करते हैं। यह ध्यान रखें कि ईश्वर को भी कालतत्त्व की मर्यादा स्वीकार करनी पड़ती है। आगे चलकर जब परशुराम श्री राम पर आक्षेप करते हुए कहते हैं, "लगता है धनुष तोड़कर तुम्हें बड़ा अहंकार हो गया है !" तो श्री राम मुसकराकर कहते हैं, "मैंने यदि यह धनुष तोड़ा होता, तो अवश्य अहंकार होता ।" बड़ा सार्थक उत्तर दिया प्रभु ने । परशुराम का कहना उनकी अपनी दृष्टि से सही है । कोई सुन्दर महल की रचना करे, तो अहंकार का होना स्वाभाविक है । कोई सुन्दर कविता रच डाले, तो अहंकार आ ही जायगा । अतः धनुष को तोड़ने-जैसा बड़ा काम करके राम को अहंकार कैसे नहीं होगा ? पर श्री राम का उत्तर बड़ा सार्थक है--"यदि मैंने धनुष-भंग का कार्य किया होता, तो अहंकार अवश्य होता। पर मैंने यह कार्य कहाँ किया? वह तो अपने आप हो गया !" यही जीव और ईश्वर का भेद है। जीव मानता है कि मैं करता हूँ, इसलिए उसे अहंकार होता है, पर ईश्वर की मान्यता क्या है ? हम भले ही कहें कि ईश्वर ने धनुष को तोड़ दिया, उसने इस वस्तु का निर्माण किया, पर वह स्वयं क्या मानता है ? भगवान् राम उत्तर देते हुए कहते हैं--

छुअतहिं टूट पिनाक पुराना ।
मैं केहि हेतु करौं अभिमाना ।। १।२८२।८

यहाँ 'पुराना' शब्द बड़ा सांकेतिक है। श्री राम परशुराम से मानो कहते हैं--'आप तो जानते ही हैं कि प्रत्येक वस्तु काल पाकर क्षीण होती है। जो वस्तु आज नूतन है, वही कल पुरानी हो जायगी और जो वस्तु पुरानी है, उसका एक दिन विनाश हो जायगा। धनुष को तो एक न एक समय टूटना ही था, क्योंकि वह पुराना हो गया था। अब यह तो मात्र एक संयोग था कि वह मेरे द्वारा टूट गया। उस निर्दिष्ट समय में यदि कोई भी पहुँच जाता, तो धनुष टूट ही जाता। यह संयोग की बात है कि गुरुदेव ने मुझे आज्ञा दे दी।'

गोस्वामीजी ने संकेत भी किया है कि अन्य राजाओं से धनुष क्यों नहीं टूटता। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा--अच्छा, जब विस्वामित्र को आज्ञा देनी ही थी, तो उन्होंने श्री राम को धनुष तोड़ने की आज्ञा कुछ पहले ही क्यों न दे दी? गोस्वामीजी इसका उत्तर देते हुए संकेत करते हैं--'बिस्वामित्र समय सुभ जानी'। जब विश्वामित्र ने देखा कि अब वह काल आ गया है जब धनुष को टूटना है, तब वे आज्ञा देते हैं। जिस घटना का जो समय है, वह उसी समय घटती है और ईश्वर भी काल की इस मर्यादा को स्वीकार करता है। जो व्यक्ति काल के द्वारा होनेवाले कार्य को स्वयं अपने द्वारा सम्पन्न मानता है, वही अहंकार कर सकता है। पर श्री राम तो धनुष के टूटने में काल को कारण

मानते हैं। यह बात परशुराम नहीं समझ पाते। श्री राम और परशुराम आमने-सामने खड़े हैं, पर दोनों के व्यक्तित्व में इतनी भिन्नता है कि भगवान् राम को परशुराम समझ नहीं पाते। और मैं तो कहता हूँ कि यदि लक्ष्मणजी न होते, तो शायद कभी भी नहीं समझ पाते। यहाँ लक्ष्मणजी की भूमिका आचार्य के रूप में आती है। हम पढ़ते हैं कि परशुराम धनुष टूटने के बाद आते हैं। उनके आने पर प्रत्येक राजा उनके चरणों में प्रणाम करता है। महाराज जनक के आदेश पर सीताजी भी उनके चरणों में प्रणाम करती हैं। फिर परशुराम और विश्वामित्र का मिलन होता है। तत्पश्चात् भगवान् राम और श्री लक्ष्मण भी परशुराम के चरणों में प्रणाम करते हैं। बस, यही भूमिका थी। परशुराम प्रसन्न होते हैं कि इतने लोगों ने मुझे प्रणाम किया। उन्हें लगता है कि यदि मैं बड़ा न होता, तो लोग मुझे प्रणाम क्यों करते? पर उनकी यह कसौटी ठीक नहीं। याद रखें, जहाँ बड़प्पन दूसरे के प्रमाण-पत्र पर आश्रित है, वहाँ प्रमाण-पत्र देनेवाला बड़ा है, लेनेवाला नहीं; क्योंकि आखिर प्रमाण-पत्र तो अधिक योग्यतावाला व्यक्ति ही देता है। अतएव जो योग्यता का प्रमाण-पत्र दूसरों से लिया करते हैं, वे अधूरे हैं। जो यह मानकर चलता है कि जिसे सब प्रणाम करते हों वह बड़ा है, ऐसा व्यक्ति यदि हजार प्रणाम करनेवाले लोगों में ऐसे दस लोगों

को देख ले जो प्रणाम नहीं करते, तो उसे अपनी अपूर्णता का बोध होने लगेगा। बेचारे दक्ष प्रजापति को इसी समस्या का सामना करना पड़ा था। जब वह प्रजापति चुना जाने के बाद ब्रह्मा की सभा में गया, तो सब लोग उठकर खड़े हो गये। पर उसका दुर्भाग्य यह था कि उसने यह नहीं देखा कि कितने लोग मुझे देखकर खड़े हो गये, वह बड़े ध्यान से चारों ओर देखने लगा कि कहीं कोई बैठा तो नहीं रह गया है। सो एक सज्जन उसे बैठे दिख गये। वे थे शंकरजी! और बस, दक्ष तिलमिला उठता है। यह जीवन का व्यंग्य है। हम मान-अपमान के कितने पराधीन हो जाते हैं। कोई जान में या अनजान में हमारा अनादर कर दे, तो हम अपना सन्तुलन खो बैठते हैं। हम अपने बड़प्पन के लिए, अपने सुख के लिए पराधीन हो जाते हैं। दूसरे कहें तो हम बड़े, दूसरे प्रणाम करें तो हम बड़े! बस, यही समस्या परशुरामजी की है। वे देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति ने उन्हें प्रणाम किया और वे प्रसन्न हो उठते हैं कि मैं कितना बड़ा हूँ। पर श्री राम के रूप में जो ईश्वर खड़े हैं, उनकी क्या धारणा है? श्री राम अपना बड़प्पन इसमें नहीं मानते कि सब उन्हें प्रणाम करते हैं, बल्कि इसमें कि वे सबको प्रणाम कर सकते हैं। जो सबको प्रणाम करा सकता है, वह बड़ा नहीं है, बल्कि जो सबके सामने झुक सकता है, वह बड़ा है। इसका अभिप्राय यह है कि जिसमें सच्चे अर्थों में बड़प्पन

है, उसे यह डर नहीं कि झुकेंगे तो कहीं बड़प्पन न गिर जाय। जो सिर पर कोई वस्तु लादे रहेगा, वह भले ही डरे कि मैं झुकूँगा तो वस्तु नीचे गिर जायगी, पर जिसके सिर पर कोई बोझ नहीं है, वह फिर कहीं भी झुके, उसका क्या खोना-जाना ! तो, श्री राम परशुराम के चरणों में गिरते हैं। बड़प्पन की दो परिभाषाएँ हो गयीं। इसके पश्चात् वार्तालाप प्रारम्भ होता है।

परशुरामजी ने जब श्री राम और श्री लक्ष्मण को देखा, तो सहज ही दोनों की जोड़ी उन्हें बड़ी प्रिय लगी। गोस्वामीजी ने बड़ी सार्थक बात कही। श्री राम और श्री भरत का व्यक्तित्व बिलकुल एक-जैसा है, पर श्री लक्ष्मण का उस प्रकार का नहीं है। श्री राम में जैसी सुकुमारता है, वैसी ही सुकुमारता श्री भरत में भी है। भगवान् राम जैसे शीलवान् हैं, श्री भरत भी वैसे ही शीलवान् हैं। पर लक्ष्मणजी का व्यक्तित्व बिलकुल भिन्न प्रकार का है। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा--भगवान् राम, श्री सीताजी तथा श्री लक्ष्मण को देखकर आपको क्या लगता है ? तो गोस्वामीजी 'गीतावली रामायण' में वन्दना करते हुए कहते हैं--

रामचन्द्र कर कंज कामतरु बामदेव हितकारी। ७।१४

--'भगवान् राम की भुजा मानो कल्पतरु है।' और सीताजी क्या हैं ?--

सिय सनेह बर बेलि बलित तरु

--जैसे किसी सुन्दर वृक्ष पर लता लिपट जाय, तो लता और वृक्ष के मिलन से एक अपूर्व शोभा का निर्माण हो जाता है, उसी प्रकार श्री राम तो मानो कल्पतरु हैं और सीताजी वह कृपामयी, करुणामयी लता हैं। और लक्ष्मणजी क्या हैं ?--

प्रेम बन्धु बर बारी।

--वे इस कल्पतरु और लता के चारों ओर रक्षा करने-वाली बाड़ के समान हैं।

रामचन्द्र कर कंज कामतरु बामदेव हितकारी।
सिय सनेह बर बेलि बलित तरु,
प्रेम बन्धु बर बारी।। ७।१४

और बाड यदि थोड़ी कटीली हो, तो वह प्रशंसा के योग्य ही होती है, निन्दा के नहीं। बाड़ का कटीला होना ही उसकी शोभा है। तो, लक्ष्मणजी की भुजा बाड़ बनकर श्री राम और श्री सीता की रक्षा के लिए सर्वदा सन्नद्ध है। इसलिए श्री राम और श्री भरत की जोड़ी अधिक अच्छी नहीं है, बल्कि दोनों बड़े अच्छे हैं---अलग अलग दोनों बड़े महान् हैं। पर दोनों यदि एक साथ खड़े हो जायँ, तो उतना आनन्द नहीं आएगा। दो कुएँ एक साथ आस-पास खोदकर रख दिये जायँ, तो क्या लाभ होगा ? पर एक कुआँ खोद दिया जाय और एक वृक्ष लगा दिया जाय, तो भले ही दोनों उल्टी दिशाओं में जा रहे हों--कुआँ नीचे की ओर और वृक्ष ऊपर की ओर---दोनों सुख प्रदान करते हैं। कुएँ

का जल व्यक्ति की प्यास बुझाएगा और वृक्ष की छाया उसे विश्राम देगी। गोस्वामीजी कहते हैं कि श्री राम और श्री लक्ष्मण की जोड़ी इसी प्रकार की है। परशु-राम ने जब पहली बार उन दोनों को देखा, तो उन पर भी ऐसा ही प्रभाव पड़ा--

राम लखनु दसरथ के ढोटा।
दीन्हि असीस देखि भल जोटा॥ १।२६८।७

--सुन्दर जोड़ी देखकर वे कह उठते हैं कि दोनों भाई बड़े सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं। दोनों की जोड़ी बड़ी आकर्षक लग रही है। एक श्याम है तो दूसरा गौर। रात्रि और दिन दोनों कितने अच्छे लगते हैं। रात काली होती है और दिन उज्ज्वल, लेकिन दोनों हमें आनन्द देते हैं। दिन में हम कर्म करते हैं और रात्रि के अन्धकार में विश्राम करते हैं। दोनों की जोड़ी मिलकर व्यक्ति को कर्म और विश्राम की प्रेरणा देती है। कर्म और विश्राम की प्रेरणा देनेवाला यह दिन और रात्रि का संयोग जैसे हमारे लिए सुखद है, वैसे ही श्री लक्ष्मण और श्री राम वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं--दोनों का व्यक्तित्व एक दूसरे के बिना अधूरा है।

तो, जब परशुराम ने श्री राम और श्री लक्ष्मण को पहली बार देखा, तो उन्हें जो सहज अनुभूति हुई, वह इसी आनन्द की अनुभूति थी। यदि उन्होंने हृदय की इस सहज प्रेरणा को स्वीकार किया होता, तो शायद समस्या न आती। वे समझ जाते कि दोनों के

शरीर का रंग-भेद वस्तुत: उनके अन्त:करण के भेद का परिचायक नहीं, बल्कि दोनों का अन्त:करण तो वास्तव में सर्वथा एकाकार है। पर परशुराम की समस्या यह थी कि वे अन्त:करण की सहज प्रेरणा को छोड़कर बुद्धि और तर्क पर उतर आये। अन्त:करण की प्रेरणा सामान्यत: ईश्वर की प्रेरणा होती है। समस्या तब उत्पन्न होती है, जब हम अपनी आँख पर विश्वास करके बुद्धि और तर्क से प्रभावित हो उसके आधार पर किसी वस्तु को श्रेष्ठ मान लेते हैं। जब परशुराम ने श्री राम को देखा, तो गोस्वामीजी कहते हैं--

रामहि चितइ रहे थकि लोचन। १।२६८।८

पहले तो परशुराम ने दोनों को देखा और फिर जब श्री राम की ओर उनकी दृष्टि गयी, तो उनके नेत्र थक गये। गोस्वामीजी का शब्द-विन्यास बड़ा सार्थक है। उनके इस कथन का अभिप्राय क्या है? जैसे कोई थका हुआ व्यक्ति रुक जाता है, उसी तरह जब नेत्र भी थक जाते हैं, तो वे रुक जाते हैं, यानी स्थिर होकर, एकटक देखने लगते हैं। गोस्वामीजी आँखों का एकटक देखना और थक जाना, इन दोनों का प्रयोग करते हैं। कहीं तो वे कहते हैं कि नेत्र एकटक देख रहे हैं और कहीं कहते हैं कि नेत्र थक गये। पर एकटक देखने की अपेक्षा थक जाने में गोस्वामीजी का संकेत और होता है। वह क्या? थक जाने का मनोविज्ञान क्या होता है? थक जाने

के बाद क्या करना चाहिए ? जैसे व्यक्ति कहीं पर पहुँचना चाहता हो और मार्ग में उत्साहपूर्वक बढ़ता चला जा रहा हो, तो लक्ष्य पर पहुँचने की आतुरता में भले ही उसे थकान का भान नहीं होता, किन्तु ज्योंही वह अपने स्थान पर पहुँचता है त्योंही बैठ जाता है, लेट जाता है, कहता है कि अब तो कहीं जाना नहीं है, अब तो विश्राम की आवश्यकता है, उसी प्रकार हमारे ये नेत्र निरन्तर चल रहे हैं और जब वे अपने लक्ष्य को पा लेंगे, तो उन्हें भी विश्राम की आवश्यकता होगी। नेत्र की चंचलता का कारण शरीर-विज्ञानी भले ही कुछ दूसरा बताए, पर भक्त तो हर वस्तु का अर्थ भिन्न रूप से लेता है। वह कहता है कि नेत्र चंचल इसलिए हैं कि वे सतत ईश्वर की खोज में लगे हुए हैं, इसीलिए वे चल रहे हैं, खोज रहे हैं। और जिस दिन ईश्वर सामने आ जाते हैं, उस दिन नेत्र कहते हैं कि बस, अब तो हम लक्ष्य पर पहुँच गये, अब हम थक गये, अब हमें विश्राम करना चाहिए। गोस्वामीजी 'पुष्पवाटिका' के प्रसंग में इसी का संकेत करते हैं। जिस समय वहाँ सीताजी ने श्री राम को देखा, उस समय का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं—

> चितवत चकित चहूँ दिसि सीता।
> कहँ गए नृप किसोर मनु चिंता॥
> जहँ बिलोक मृग सावक नैनी।

जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी ।।
लता ओट तब सखिन्ह लखाए ।
स्यामल गौर किसोर सुहाए ।।
देखि रूप लोचन ललचाने ।
हरषे जनु निज निधि पहिचाने ।। १।२३१।१-४

गोस्वामीजी आगे लिखते हैं--

थके नयन रघुपति छबि देखें ।

पहले नेत्र श्री राम की खोज में लगे हुए थे और जब वे मिल गये, तो उन्हें देखकर नेत्र थक गये। तदनन्तर थकने के बाद जो किया जाना चाहिए था, वही श्री सीताजी ने किया। गोस्वामीजी इसके माध्यम से साधना का भी संकेत देते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि जो थकने के बाद भी नहीं सोएगा, वह अभागा है, वह कष्ट पाएगा। चलने के बाद जब गन्तव्य आ गया, तो नेत्र मूँद लीजिए। वे तभी तक चंचल रहें, जब तक गन्तव्य मिला नहीं है, और जब वह मिल गया, तब चंचलता कैसी ? इसीलिए गोस्वामीजी लिखते हैं--

थके नयन रघुपति छबि देखें ।
पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें ।। १।२३१।५

और थकने के बाद अगला कार्य हुआ--

लोचन मग रामहि उर आनी ।
दीन्हें पलक कपाट सयानी ।। १।२३१।७

--किवाड़ बन्द कर दिये गये। अब विश्राम की बेला

आ गयी। अब कर्म की अपेक्षा नहीं रह गयी। देखने के लिए अब कोई वस्तु शेष नहीं रह गयी। इस प्रकार श्री सीताजी के बन्द नेत्र उनके थकने की प्रक्रिया को प्रकट करते हैं।

परशुरामजी के भी नेत्र थक गये। यदि थकान के बाद परशुराम नेत्र मूँद लेते, तो समस्या विकराल नहीं हो पाती। लक्ष्मणजी आगे चलकर उन्हें यही सलाह देते हैं। जब परशुराम रुष्ट होकर कहते हैं कि——

बेगि करहु किन आँखिन्ह ओटा। १।२७९।७

——यह बालक तो बड़ा ढीठ है, इसे सभा से निकाल बाहर करो, इसे मेरी आँखों के सामने से दूर कर दो, तो भला किसमें साहस है कि लक्ष्मणजी को सभा से बाहर निकाले? और लक्ष्मणजी को तो हँसी आ जाती है। वे चुटकी लेकर उत्तर में तुरत कहते हैं——

मूदें आँखि कतहुँ कोउ नाही। १।२७९।८

——मुझे आँखों से दूर करने के लिए दूसरे को क्यों बुलाते हैं, उपाय तो आपके ही पास है। जरा नेत्र मूँद लीजिए तो देखिए कि लक्ष्मण अपने आप गायब हो जाता है या नहीं। तात्पर्य यह है कि जो उपाय व्यक्ति के पास होता है, उसका उपयोग नहीं करने से वह पराधीन ही हो जाता है। फिर लक्ष्मणजी का संकेत यह भी था कि यदि परशुराम ने अपने नेत्र मूँद लिये होते, तो उन्होंने सत्य को बहुत कुछ जान

लिया होता, अन्तःप्रेरणा के द्वारा समझ लिया होता कि सामने कौन खड़े हैं। पर कठिनाई यह है कि परशुरामजी नेत्रों के थकने के बाद भी उन्हें नहीं मूँदते, वे नहीं समझ पाते कि ईश्वर की उपलब्धि के बाद अब कुछ भी नेत्रों से देखने योग्य बाकी नहीं रह गया है। वे श्री राम को थकित नेत्रों से देखते तो हैं, पर उन्हें अचानक ध्यान आ जाता है कि अरे! मैं तो दूसरे काम से आया था, मैं तो धनुष तोड़नेवाले व्यक्ति को दण्ड देने के लिए आया था, जरा पता तो लगा लें कि किसने धनुष तोड़ा है?——

बहुरि बिलोकि बिदेह सन कहहु काह अति भीर।
पूँछत जानि अजान जिमि ब्यापेउ कोपु सरीर॥
१।२६९

——वे क्रोध में काँप रहे हैं, उनकी सारी शान्ति समाप्त हो जाती है, वे गरजकर जनक से पूछते हैं कि यह भीड़ क्यों लगी हुई है, मानो इतने अनजान बन गये हैं कि उन्हें कुछ मालूम नहीं। जनकजी डरते डरते अपनी प्रतिज्ञा की बात बतलाते हैं। तब आवेश में आकर परशुराम ललकारते हुए कहते हैं——जिस व्यक्ति ने धनुष तोड़ा हो, वह हमारे सामने आ जाय, अन्यथा——

न त मारे जैहहिं सब राजा। १।२७०।५

——मैं सभी राजाओं को समाप्त कर दूँगा। इस कथन से परशुराम के व्यक्तित्व का एक दुर्बल पक्ष सामने

आता है। वे दण्ड देना तो जानते हैं, पर उनका नियम है कि एक व्यक्ति को दण्ड देने के लिए सबको समाप्त कर दिया जाय--यदि एक क्षत्रिय ने अपराध किया है, तो सारी क्षत्रिय जाति को ही समाप्त कर दो। जनक की समस्या यह है कि यदि वे धनुष तोड़नेवाले का नाम बता दें, तो परशुराम का फरसा तुरन्त चलेगा और वे श्री राम को दण्ड देंगे, क्योंकि श्री राम तो ठीक परशुराम के सामने ही खड़े थे। अतः डर के मारे वे कुछ बोलते नहीं--

अति डरु उतरु देत नृपु नाहीं। १।२६९।५

जब श्री राम न देखा कि सभी भयभीत हैं, तो वे प्रणाम करके परशुरामजी से कहते हैं--

नाथ संभु धनु भंजनिहारा।
होइहि केउ एक दास तुम्हारा॥
आयसु काह कहिअ किन मोही।
सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही॥ १।२७०।१-२

--'हे नाथ, शिवजी के धनुष को तोड़नेवाला आपका कोई एक दास ही होगा। क्या आज्ञा है, मुझसे क्यों नहीं कहते?' परशुराम इस वाक्य को सुनकर यह नहीं समझ पाते कि यह उत्तर देनेवाला राजकुमार ही धनुष का तोड़नेवाला है, क्योंकि श्री राम को देखकर वे यह कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि धनुष तोड़नेवाले व्यक्ति का ऐसा स्वरूप हो सकता है। वे जब जनक की स्वयंवर-सभा में आये,

तो उनके मन में धनुष तोड़नेवाले के सम्बन्ध में दो ही कल्पनाएँ थीं---एक तो यह कि वह गर्व से फूलकर, सीना तानकर सारी सभा में खड़ा होगा और दूसरी यह कि जब वह मेरे आगमन का समाचार सुनेगा, तो थर थर काँपने लगेगा। जब वे सभा में आये, तो उन्हें ऐसा कोई व्यक्ति दिखायी नहीं दिया, जो सीना तानकर खड़ा हो। उन्होंने सोचा कि सम्भव है, मेरे आने से पहले तक वह सीना तानकर खड़ा रहा होगा और अब मेरे आगमन का समाचार सुन डर के मारे काँप रहा होगा। यह सोच जब उन्होंने चारों ओर दृष्टि घुमायी, तो काँपनेवालों की संख्या इतनी अधिक देखी कि निर्णय करना उनके लिए कठिन हो गया, क्योंकि सभी काँपते दिखायी दे रहे थे। और इधर धनुषभंग करनेवाले श्री राम न तो अकड़े हुए खड़े थे और न किसी प्रकार आतंकित थे, वे तो शान्त भाव से खड़े थे---

हृदयँ न हरषु बिषादु कछु बोले श्रीरघुबीरु। १।२७०

यही कारण था कि परशुराम यह समझ न पाये कि श्री राम ने धनुष तोड़ा है। वे श्री राम की भाषा नहीं समझ पाये और इसलिए लक्ष्मणजी दुभाषिये के रूप में सामने आये। उनकी विशेषता यह है कि वे भगवान् राम की भी भाषा जानते हैं और परशुराम की भी।

कोई पूछ सकता है कि भगवान् राम ने परशु-

राम के प्रश्न का सीधा उत्तर क्यों नहीं दिया कि महाराज, धनुष मैंने तोड़ा है; इतना घुमावदार उत्तर देने की क्या आवश्यकता थी कि शंकरजी का धनुष तोडनेवाला आपका कोई एक दास रहा होगा ? वास्तव में, श्री राम ने अपनी समझ में कोई घुमावदार वाक्य नहीं कहा था, उन्होंने तो जीवन का सत्य कह दिया था। उन्होंने अपने कथन के माध्यम से एसे दर्शन को प्रकट किया, जिसे अपने जीवन में स्वीकार कर कोई भी व्यक्ति धन्य हो सकता है। परशुरामजी ने पूछा था कि धनुष किसने तोड़ा ? और श्री राम के उत्तर का तात्पर्य यह था कि जब धनुष था, तब भले ही उसके तोड़नेवाले की आवश्यकता रही होगी पर अब जब वह टूट चुका है, तब उसके तोड़नेवाले की क्या आवश्यकता है ? धनुष के टूटने के बाद भी यदि तोड़नेवाला बना रहेगा, तब तो संघर्ष होगा। यही श्री राम का दर्शन है। हमारी, समाज की, जीवन की समस्या यही है कि किसी भी अच्छी क्रिया के बाद करनेवाला अपने आपको बचा लेता है, और यही संघर्ष की जड़ है। होना तो यह चाहिए कि क्रिया जब तक रहे, तभी तक व्यक्ति उसके कर्तृत्व को स्वीकारे। 'गीता' में, 'रामचरितमानस' में यह जो कहा गया है कि तात्त्विक दृष्टि से जीव कर्ता नहीं है, उसका क्या तात्पर्य ? व्यवहार में तो व्यक्ति कर्म करेगा ही---वह कहेगा ही कि मैं गया, मैंने खाया,

मैंने पिया। तो क्या ऐसी भाषा के उपयोग से 'गीता' या 'मानस' का उपर्युक्त दर्शन खण्डित हो जायगा ? कुछ लोग 'मैं' का उपयोग करने के बदले यों कहते हैं ---रामजी ने खाया, रामजी ने पिया। तो क्या केवल भाषा के ऐसे अन्तर से कोई वास्तविक अन्तर पड़ता है ? यदि आपको अपनी हर क्रिया के सन्दर्भ में ऐसी अनुभूति हो रही है कि आप नहीं बल्कि रामजी कर रहे हैं, तब तो कोई बात नहीं, पर यदि अन्तःकरण में अपने कर्तापन की अनुभूति बनी हुई हो, तो केवल शब्द में 'रामजी रामजी' कहना कोई मानी नहीं रखता। व्यवहार में 'मैं' शब्द का प्रयोग कोई बड़ी समस्या की बात नहीं है, यदि अन्तःकरण में वह विलक्षणता है, जो भगवान् राम के चरित्र में है, और वह है---व्यक्ति जिस समय जो कार्य करे, उसी समय तक के लिए अपने आपको उसका कर्ता माने। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि आपको भाषण देने के लिए कहा गया, तो जिस समय तक के लिए भाषण देना है उतने समय तक के लिए ही जो वक्ता रहेगा, वह व्यक्ति तो सुखी रहेगा, पर भाषण देने के बाद भी जो वक्ता बना रह जायगा, वह अपने लिए समस्या खडो कर लेगा। कई बार वक्ता से यहीं भूल हो जाती है। मान लीजिए आप कथा सुनने बैठे हैं। आपको यदि ध्यान रह गया कि आप बहुत बड़े वक्ता हैं तो आप कथा सुन ही

नहीं सकते। यह सम्भव नहीं कि वक्ता कथा सुनने का काम करे। वक्ता का काम है बोलना, और जो सुनते समय भी बोलेगा, वह कथा क्या सुन पाएगा? बोलने का अर्थ यह नहीं कि वह वाणी से ही बोलेगा, वह मन से भी बोल सकता है; क्योंकि वक्ता विना बोले कैसे रह सकेगा? जो बोलेगा नहीं वह वक्ता कैसे कहलाएगा? तो, जो वक्ता सुनने के लिए बैठता है, वह पूरी देर स्वयं बोलता रहता है-- वह ढूंढ़ता रहता है कि बोलनेवाले की भाषा में कहाँ अशुद्धि हो गयी, भाव कहाँ पर गलत हो गया। एक वक्ता ने एक सज्जन का भाषण सुनने के बाद मुझे बताया कि आज मैं एक वक्ता का भाषण सुनने गया था, उसने २७ बार अशुद्ध वाक्यों का प्रयोग किया! इससे समझ में आ गया कि श्रोता नहीं सुन रहा था, वह तो वक्ता सुन रहा था। तो जब वक्ता सुनेगा, तो ऐसी टकराहट हो ही जायगी। इसीलिए वक्ता को चाहिए कि वह तभी तक वक्ता रहे, जब तक वह भाषण दे रहा हो। यही बात प्रत्येक क्षेत्र में हैं। एक न्यायाधीश जब तक न्याया-लय में है, तभी तक वह न्यायाधीश रहे और जब न्याय का कार्य करने के पश्चात् वह न्यायालय से बाहर निकले, तब न्यायाधीश पद छोड़कर घर आए, तभी ठीक रहेगा। यदि वह घर में पत्नी और बच्चे से भी न्यायाधीश बनकर व्यवहार करे, तो

घर में झगड़ा हुए विना नहीं रह सकता। व्यक्ति की समस्या यह है कि जिस कार्य को वह बढ़िया मानता है, उसे ओढ़े रहता है। पदाधिकारी हर समय अपने को पदाधिकारी मानेगा। वक्ता हर समय अपने को ववता मानेगा, धनिक हर समय धनिक मानेगा। व्यक्ति जब अपने आपको हर समय अपने अहं में, अपने कर्तृत्व में स्थित कर देता है, तो अनर्थ होता है। इसी-लिए भगवान् राम की बात बड़ी सार्थक है। वे परशुराम से कहते हैं कि जब तक धनुष था, तब तक उसके तोड़ने-वाले की आवश्यकता थी, पर अब जव वह टूट गया तो भूमिका समाप्त हो गयी। इस समय तो आप जैसा महापुरुष यहाँ आया हुआ है, और यह एक दास आपके सामने खड़ा है। यही श्री राम की विशेषता है। वे जिस समय जो काम करते हैं, उस समय वही बन जाते हैं। इसलिए उनके व्यक्तित्व में कोई टकराहट नहीं, उन्हें कोई कार्य करने में संकोच नहीं। जब उन्हें पुष्पवाटिका में फूल लेने जाना है, तो वे गुरु से आज्ञा लेकर जाते हैं——

समय जानि गुर आयसु पाई।
लेन प्रसून चले दोउ भाई॥ १।२२६।२

और जब वे पुष्पवाटिका में पहुँचते हैं, तब माली से आज्ञा लेकर फूल चुनते हैं——

चहुँ दिसि चितइ पूँछि मालीगन। १।२२७।१

यही उनके व्यक्तित्व की पूर्णता है। यदि भगवान् राम गुरु से आज्ञा लें, तो कोई आश्चर्य नहीं; लोग

कह सकते हैं कि शिष्य को गुरु से आज्ञा लेनी ही चाहिए। पर आश्चर्य तब होता है, जब वे माली से आज्ञा लेते हैं। माली न तो उनसे जाति में बड़ा है, न पद में, न धन में और न योग्यता में। तात्त्विक दृष्टि से देखें तो श्री राम साक्षात् ईश्वर हैं और माली जीव। सामान्य दृष्टि से देखें तो श्री राम महाराज जनक के अतिथि हैं, राजभवन में ठहरे हुए हैं और वह रहा साधारण माली। और इस माली से भगवान् राम जाकर पूछते हैं कि क्या मैं इस बाग का फूल ले सकता हूँ? मुझे गुरुदेव के पूजन के लिए फूल लेना है, यदि अनुमति हो तो ले लूँ। इसका तात्पर्य क्या है? जब वे विश्वामित्र से आज्ञा लेते हैं, तब उनके ध्यान में यह बात थी कि ये मेरे गुरु हैं और मैं इनका शिष्य। और जब वे माली के पास अनुमति लेते हैं, तो यह सोचते हैं कि मैं फूल चाहनेवाला हूँ और यह फूल का रक्षक है, अतः इस समय तो उसी की आज्ञा चलेगी। जिस क्षण जो कार्य सामने आता है, भगवान् राम उस क्षण उसी के अनुरूप बन जाते हैं। जब रात्रि को गुरुदेव शयन करते हैं, तो श्री राम ईश्वर नहीं रह जाते। तब वे उस समय क्या करते हैं? गोस्वामीजी लिखते हैं --

जिन्ह के चरन सरोरुह लागी।
करत बिबिध जप जोग बिरागी॥
तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते।
गुरु पद कमल पलोटत प्रीते॥ १।२२५।४-५

--बड़े प्रेम से दोनों भाई विश्वामित्र के चरण दबाने लगते हैं। विश्वामित्रजी को बड़ा संकोच होता है। वे तो श्री राम के ईश्वरत्व को जानते हैं। इन्हें ईश्वर समझकर ही वे राजा दशरथ से माँग लाये हैं। तो, इनसे चरणसेवा लेते हुए विश्वामित्र को लगता है कि मैं कितना बड़ा अनर्थ कर रहा हूँ। वे मन ही मन विचार करते हैं कि क्या अपने पैर दबवाने में ईश्वर को माँग लाया हूँ? पर भगवान् राम को कोई संकोच नहीं होता। वे गुरुदेव की ओर देखकर मानो कहना चाहते हैं कि गुरुदेव, नाटक में तो अपनी भूमिका का ठीक ही निर्वाह होना चाहिए, उस समय ईश्वरत्व और ऋषित्व सामने नहीं आना चाहिए। फिर यह तो खेल है, और खेल में कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। जो खेल में हारे, उसे दाँव देना चाहिए। हम कथा में भी तो पढ़ते हैं कि जब भगवान् कृष्ण खेल में हार गये और दाँव देने से कतराने लगे, तो श्री दामा ने उन्हें फटकार दिया--

> खेलन में को काको गुसैया ?
> अति अधिकार जनावत याते
> अधिक तुम्हारे हैं कछु गैया ।।

--खेलने में कोई बड़ा-छोटा थोड़े ही होता है? तुम नन्द बाबा के बेटे हो इसलिए दाँव न दो और हम साधारण आदमी हैं इसलिए दाँव देने के लिए बाध्य हों--यह भी कोई बात है? जो हारेगा, उसे दाँव देना ही होगा। तो, ऐसा ही भगवान् राम भी मानो

धीरे से गुरुदेव को बता देना चाहते हैं कि गुरुदेव, आप संकोच क्यों कर रहे हैं ? हम तो यह दाँव चुका रहे हैं अपने हारने का। हम तो आपके द्वारा जीते हुए हैं-- 'तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते।' देखिए, मैं तो राक्षसों का वध करने के लिए, मुनियों का भय दूर करने के लिए अवतार लेकर आया था, पर मैं पिछड़ गया। आप स्वयं चलकर अयोध्या तक गये और मुझे माँग लाये। आपके चरणों को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा, इसलिए मैं तो हारा हुआ हूँ। और आज यदि मैं आपकी चरणसेवा के द्वारा आपका दाँव दे रहा हूँ, तो यह उचित ही है।

तो, भगवान् राम अपनी हर भूमिका ठीक ठीक निभाते हैं। आज जब परशुराम उनसे पूछते हैं कि धनुष किसने तोड़ा, तो वे कहते हैं कि धनुष तोड़नेवाला तो अतीत की बात हो गया, आप आज्ञा दीजिए। परशुराम नहीं समझ पाते। वे श्री राम से पूछते हैं-- अच्छा बताओ, धनुष तोड़नेवाला कौन है ? तुम बड़े नम्र जान पड़ते हो। जिसने धनुष तोड़ा होगा, वह मेरा शत्रु है और उसे मैं सहस्रार्जुन के समान दण्ड दूँगा। प्रभु मुसकराकर चुप रह जाते हैं। वे समझ जाते हैं कि अब मेरी नहीं, लक्ष्मण की भूमिका आ गयी। और लक्ष्मण भी प्रभु का संकेत समझकर परशुराम के प्रश्न का स्पष्ट शब्दों में उत्तर देने के लिए प्रवृत्त होते हैं, जिससे मुनि अन्ततोगत्वा श्री राम के स्वरूप का परिचय पाकर अपनी अपूर्णता को दूर कर ले सकें।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम्. ए.

(१) उचित दण्ड

राजगृह में एक बड़े उत्सव का आयोजन हुआ। उसमें नृत्य के लिए एक कुशल नर्तकी को, जो एक ग्वाले की पत्नी थी, आमंत्रित किया गया। उस समय गर्भवती होने के कारण उसने अपनी असमर्थता व्यक्त की, किन्तु सामन्तों ने नहीं सुना और उसे मजबूरन नृत्य करना पड़ा। इससे उसे दुःख हुआ और उसके हृदय में प्रतिशोध की भावना भड़क उठी, जो अन्त तक कायम रही। परिणाम यह हुआ कि दूसरे जन्म में राजगृह में ही यक्षिणी के रूप में उसका जन्म हुआ और उसका नाम 'हारीति' रखा गया।

जब वह बड़ी हुई, तो पूर्वजन्म का प्रतिशोध पाप की प्रेरणा बनकर फूटा और वह नगर के बच्चे चुरा-चुराकर उन्हें मारने और उनका भक्षण करने लगी। यह बात छिपी न रह सकी और वह बन्दी बना ली गयी। गौतम बुद्ध को जब यह पता चला कि बच्चों का भक्षण करनेवाली एक स्त्री को बन्दी बनाया गया है, तो उनके मस्तिष्क में हलचल मची कि एक कला-निष्णात स्त्री में पापकर्म ने प्रवेश कैसे किया। अन्तर्दृष्टि से जब पूर्वजन्म में उसके साथ हुए दुर्व्यवहार का उन्हें पता चला, तो उन्होंने राजगृह-नरेश से कहकर उसे कारागार से मुक्त करा दिया। साथ ही सेवकों से उसके बच्चे को चुराने के लिए कहा।

पुत्र के खो जाने से हारीति को मर्मान्तक पीडा हुई। उसकी करुणा और वात्सल्य तीव्र रूप से जागृत हो उठा। साथ ही उसने अनुभव किया कि ऐसा दुःख-शोक उन माताओं को भी हुआ होगा, जिनके बच्चों का उसने अपहरण कर भक्षण किया था। पुत्र-वियोग से दुःखी हारीति गौतम बुद्ध के पास गयी और बोली, "भगवन्! मेरे कर्मों का फल तो मुझे मिल गया, किन्तु मुझे इस पाप से मुक्ति कैसे मिल सकती है?"

बुद्धदेव बोले, "अब तक तो तुम शिशुओं का भक्षण करती आ रही थी। अब तुम उनके विकास और रक्षण में जुट जाओ, तभी तुम्हें शान्ति मिल सकती है। तुम्हें समाज के साथ किये गये दुर्व्यवहार को सेवारूपी साबुन से धोकर साफ करना होगा।" गौतम बुद्ध के उपदेश से उसके अन्तश्चक्षु खुल गये और उसने अपना जीवन बच्चों की सेवा में लगा दिया।

(२) क्षणिक लोभ

एक बार एक स्त्री ने गुरु नानक से प्रार्थना की, 'महाराज, आप हमारे घर पधारकर हमें कृतार्थ करें।" जब नानकदेव उसके घर गये, तो वह एक कटोरे में हँड़िया का दूध ढालने लगी। तब सारी की सारी मलाई कटोरे में गिर गयी। यह देख उसके मुँह से "अरे, अरे" शब्द निकल पड़े। फिर दूध में चीनी डालकर उसने वह कटोरा नानकदेव के सामने

रख दिया।

गुरु नानक उस स्त्री को उपदेश देने लगे। स्त्री ने सोचा कि शायद दूध गरम होगा, इसलिए वे दूध पी नहीं रहे हैं, किन्तु उपदेश समाप्त होने पर भी जब उन्होंने दूध की ओर ध्यान नहीं दिया, तो वह बोली, "महाराज, दूध पी लीजिए।"

नानकदेव बोले, "इसमें क्या क्या है!"

"दूध और चीनी।"

"नहीं, इसमें एक चीज और है, इसलिए इसे मैं नहीं पी सकता।"

"मैंने तो इसमें और कोई भी चीज नहीं मिलायी है।"

"मिलायी है और वह है 'अरे रे!' इसी कारण मैं इसे नहीं पी सकता।"

यह सुन उसे पश्चात्ताप हुआ। उसने मन में उठे क्षणिक विचारों के लिए क्षमा माँगी और नानक-देव को दूसरा दूध दिया।

(३) चक्रवर्ती कौन ?

पुष्य नामक एक प्रसिद्ध सामुद्रिक था। उसने मार्ग के चरणचिह्न देखकर कहा, "ये चरणचिह्न जिस व्यक्ति के हैं, वह कोई साधारण मनुष्य नहीं है, वह चक्रवर्ती होगा।" लोगों को यकीन नहीं हुआ, भला कोई नंगे पैर सड़क पर घूमनेवाला व्यक्ति चक्रवर्ती हो सकता है! पुष्य ने कहा, "यदि यह

गलत होगा, तो सामुद्रिक शास्त्र गलत होगा।"

सत्य बात मालूम करने के लिए वह चरण-चिह्नों के पीछे पीछे चला। जल्द ही उसे ध्यान में मग्न एक भिक्षु दिखायी दिया। वह व्यक्ति और कोई नहीं, भगवान् महावीर थे। वे जब ध्यान से विरत हुए, तो उसने प्रश्न किया, "भन्ते ! आप अकेले ही हैं ?"

भगवान् ने जवाब दिया, "इस दुनिया में जो आता है, वह अकेले ही आता है और अकेले ही जाता है, उसका साथ दूसरा कोई नहीं देता।"

"नहीं, भन्ते ! मैं तत्त्व की नहीं, व्यवहार की बात कर रहा हूँ।"

"व्यवहार की भूमिका पर मैं अकेला नही हूँ।"

"भन्ते, आप परिवारविहीन होकर अकेले कैसे नहीं हैं ?"

"मेरा परिवार मेरे साथ है।"

"वह कहाँ है, भन्ते !"

"संवर (निर्विकल्प ध्यान) मेरे पिता हैं, अहिंसा मेरी माता है, ब्रह्मचर्य भाई, अनासक्ति बहिन, शान्ति प्रिया, विवेक पुत्र, क्षमा पुत्री, उपशम घर, सत्य मित्र-वर्ग—ऐसा पूरा परिवार मेरे साथ निरन्तर घूम रहा है, फिर मैं अकेला कैसे हूँ ?"

"भन्ते ! मैं आश्चर्यचकित हूँ कि आपके शरीर के लक्षण आपके चक्रवर्ती होने की सूचना देते

हैं और आपकी चर्या साधारण व्यक्ति होने की सूचना दे रही है।"

"अच्छा ! बताओ, चक्रवर्ती कौन होता है?"

"भन्ते ! जिसके आगे आगे चक्र चलता है।"

"चक्रवर्ती कौन होता है ?"

"भन्ते ! जिसके पास बारह योजन में फैली सेना को त्राण देने वाला छत्ररत्न होता है।"

"चक्रवर्ती कौन होता है ?"

"भन्ते ! जिसके पास चर्मरत्न होता है, जिससे प्रातः बोया हुआ बीज शाम को पक जाता है।"

"तुम ऊपर, नीचे, तिरछे कहीं भी देखो, धर्म का चक्र मेरे आगे चल रहा है। आचार मेरा छत्ररत्न है, जो समूची मानवजाति को एक साथ त्राण देने में समर्थ है। भावनायोग मेरा चर्मरत्न है; उसमें जिस क्षण बीज बोया जाता है, उसी क्षण वह पक जाता है। क्या मैं चक्रवर्ती नहीं हूँ ? क्या तुम्हारे सामुद्रिक शास्त्र में धर्म-चक्रवर्ती का अस्तित्व नहीं है?"

पुष्य ने कहा, "भन्ते ! मेरा सन्देह निवृत्त हो गया। अब मैं स्वस्थ होकर जा रहा हूँ।"

(४) भगवत्प्राप्ति का मार्ग

एक बार ईसामसीह समुद्रतट पर घूम रहे थे कि एक भक्त उनके पास आया और उसने पूछा, "प्रभो, भगवत्प्राप्ति कैसे हो सकती है ?" ईसा उसे तुरन्त समुद्र में ले गये और उन्होंने उसे जल में डुबा

रखा। इससे वह छटपटाने लगा। थोड़ी देर बाद उन्होंने उसे बाहर निकाला और उससे पूछा, "जल के अन्दर तुम्हें कैसा लग रहा था ?" भक्त बोला, "ऐसा लग रहा था, मानो मेरा अन्तिम समय आ गया है। पानी में एक क्षण और रह जाता, तो मर ही जाता।" इस पर ईसा बोले, "बस, जिस क्षण संसाररूपी जल से बाहर निकलकर अपने प्रियतम प्रभु से मिलने के लिए तुम इसी प्रकार व्याकुल हो उठोगे, उसी क्षण तुम्हें उनके दर्शन हो जाएँगे।"

(५) आचरण का प्रभाव

एक बार एक स्त्री महाराष्ट्र के महान् सन्त ज्ञानेश्वर महाराज के पास अपने छोटे पुत्र को लेकर आयी और उसने कहा, "महाराज, इसे अपच की बीमारी है। मैंने इसे कई दवाइयाँ दीं, किन्तु उनका कुछ भी असर नहीं हुआ।" ज्ञानेश्वर महाराज ने उससे कहा, "बहन, इसे कल ले आना।"

दूसरे दिन जब वह लड़के को लेकर उनके पास गयी, तो उन्होंने लड़के से पूछा, "तू ज्यादा गुड़ खाता है न ?" उसके द्वारा "हाँ" कहने पर उन्होंने कहा, "तू गुड़ खाना बन्द कर दे, तू जल्द ही अच्छा हो जाएगा।" बच्चे ने स्वीकृति में सिर हिला दिया।

किन्तु उसकी माँ सोचने लगी कि यह बात महाराज ने कल ही क्यों नहीं बता दी। उन्होंने आज नाहक ही बुलाया। उससे न रहा गया और उसने

पूछ ही लिया, "महाराज ! यह बात तो आप कल भी वता सकते थे ?"

सन्त बोले, "बहन ! कल जब तुम आयी थीं, तो मेरे सामने ही गुड़ रखा हुआ था। यदि मैंने इसे गुड़ खाने से कल मना किया होता, तो यह सोचता कि यह खुद तो गुड़ खाता है और मुझे खाने से मना करता है। इसी कारण मैंने स्वयं गुड़ खाना वन्द कर दिया है और अब इस स्थिति में हूँ कि इसे भी गुड़ खाने से मना कर सकता हूँ।" यह सुन स्त्री ने उनके चरण छुए और वह सन्तुष्ट हो चली गयी।

•

शरीर के रहते 'मेरा' अथवा 'मैं-पन' पूर्ण रूप से मिट नहीं सकता, कुछ न कुछ रह जाता है; जैसे नारियल के पेड़ की शाखाएँ अलग हो जाने पर भी पेड़ पर उनके निशान तो बने ही रहते हैं। परन्तु यह 'मैं-पन' नाममात्र का है और मुक्त पुरुष को बाँध नहीं सकता।

— श्रीरामकृष्ण

योग की परिभाषा

(गीताध्याय २, श्लोक ४८–५०)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

धनंजय (हे धनंजय) योगस्थः (योग में स्थित हो) संगं (आसक्ति को) त्यक्त्वा (त्यागकर) सिद्ध्यसिद्ध्योः (सिद्धि तथा असिद्धि में) समः (समान) भूत्वा (होकर) कर्माणि (कर्मों को) कुरु (कर) समत्वं (समत्व को) योगः (योग) उच्यते (कहते हैं) ।

"हे धनजय, आसक्ति का त्याग करते हुए और कर्म की सिद्धि हो या असिद्धि, दोनों को समान मानते हुए, योग में स्थित हो कर्म कर । (कर्म के सिद्ध होने या निष्फल होने में रहनेवाली बुद्धि की इस) समता को योग कहते हैं ।"

पिछली चर्चा में हमने देखा कि भगवान् कृष्ण अर्जुन को कर्मयोग के चार सूत्र बतलाते हैं, जिनका तात्पर्य यह है कि मनुष्य को फलाशा से प्रेरित होकर कर्म नहीं करना चाहिए । तब प्रश्न उठता है कि मनुष्य फिर कर्म किस प्रकार करे ? इसी का उत्तर प्रस्तुत श्लोक में दिया गया है कि मनुष्य योगस्थ होकर कर्म करे । योग में स्थित होने का अर्थ क्या ? कर्म के प्रति आसक्ति का त्याग और कर्म की सफलता या असफलता में बुद्धि का समभाव । बुद्धि के ऐसे समत्व को योग का पर्याय माना है ।

हम पहले कह चुके हैं कि गीता में जहाँ भी स्वतन्त्र रूप से 'योग' शब्द का व्यवहार हुआ है, वहाँ यदि कोई विशेष प्रकरण न हो, तो उसका तात्पर्य कर्मयोग से होता है। प्रस्तुत पद्य में योग की परिभाषा ही दे दी गयी है और यही कर्मयोग की भी परिभाषा है। इस श्लोक के भी चार चरण हैं। पहले चरण में आदेश है कि योगस्थ होकर कर्म कर। दूसरे और तीसरे चरणों में योगस्थ होने का तात्पर्य समझाया गया और चौथे चरण में योग की परिभाषा दी गयी। योगस्थ होने के दो लक्षण बताये गये––(१) संग यानी आसक्ति का त्याग और (२) सफलता और असफलता में बुद्धि का सम रहना।

प्रश्न उठता है—किसके प्रति आसक्ति का त्याग? कर्म के फलों के प्रति या कर्म के प्रति ? कर्मफल के प्रति आसक्ति के त्याग का उपदेश तो ४७वें श्लोक में दे दिया, जहाँ कहा––'मा फलेषु कदाचन' तथा 'मा कर्मफलहेतुर्भूः'। अतः फिर से इस श्लोक में उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं समझी जा सकती। अतः यही समीचीन प्रतीत होता है कि यहाँ पर कर्मों के प्रति आसक्ति के त्याग का उपदेश दिया जा रहा है। पर इससे यह भी गलत समझ नहीं कर लेनी चाहिए कि कर्मों के प्रति आसक्ति के त्याग का मतलब कर्मों के त्याग से है। ४७वें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने यह स्पष्ट रूप से कह दिया है

कि अकर्म के प्रति प्रीति न रहे। इससे स्पष्ट है कि कर्म-त्याग उन्हें अभीष्ट नहीं है। तब कर्म के प्रति आसक्ति के त्याग का क्या तात्पर्य ? यह तो समझ में आता है कि मनुष्य को कर्मफल के प्रति आसक्ति छोड़ देनी चाहिए, पर कर्म पर भी आसक्ति न रहे तथापि वह कर्म बराबर करता रहे, यह बात एक पहेली-सी मालूम होती है। पर इस पहेली का बूझना ही कर्म-योग की वास्तविक समझ है।

हम कर्म करते हैं, फलाशा छोड़कर दूसरों की सेवा का कार्य करते हैं। उस कर्म में हमारा अपना कोई स्वार्थ नहीं रहता, वह पूरी तरह दूसरों के हित के निमित्त ही होता है। पर भगवान् का मन्तव्य यह है कि इतने से कर्मयोग का पाठ पूरा नहीं हो जाता। कर्मफल के प्रति आसक्ति के त्याग के साथ साथ हमें कर्मविशेष के प्रति आसक्ति को भी त्यागने के लिए तैयार रहना चाहिए। स्वार्थ का त्याग कर दूसरों के लिए कर्म करते हुए जीना अच्छा है, पर कभी कभी ऐसा होता है कि उस कर्म के प्रति हमारी आसक्ति हो जाती है और उसे हम छोड़ने में कष्ट का अनुभव करते हैं। उदाहरणार्थ, मैं परोपकार और जनसेवा के लिए आश्रम का निर्माण करता हूँ। आश्रम के माध्यम से इन गतिविधियों का संचालन करते हुए मैं कर्मयोग के फलाशा-त्यागरूप पहले सोपान पर तो आरूढ़ होता हूँ, पर सम्भव है कि ऐसा सेवा-कार्य

करते करते मुझे आश्रम पर ही आसक्ति हो जाय और यदि कभी उसे छोड़ने का अवसर आये, तो मुझे मानसिक कष्ट हो। यह अपूर्ण कर्मयोग है। योग पूर्ण तब होता है, जब मुझे साधन पर भी आसक्ति नहीं रह जाती। निःस्वार्थ सेवा एक साधन है---आत्म-ज्ञानरूपी साध्य को पाने का एक सक्षम साधन है, पर ध्यान रहे कि इस सेवा-कर्म पर हमारी आसक्ति न हो जाय और जब प्रयोजन उपस्थित हो, तब हम उसे छोड़ भी दे सकें। कर्म में रस तो आए, पर उससे नशा या उसमें आसक्ति न हो। कर्म में नशा होता है, उसमे भी बचना चाहिए। यह योग का दूसरा सोपान है। कर्म में आसक्त होना भी योग की एक प्रमुख बाधा है। इस प्रकार गीता में 'असंग' या 'अनासक्ति' का तात्पर्य द्विविध है---कर्मफल से असंग हो जाना और साथ ही कर्म से भी। तभी तो आगे चलकर (३।२५) भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जैसे कर्मों में आसक्त हुए अज्ञानी जन कर्म करते हैं, लोकसंग्रह की इच्छावाले ज्ञानी पुरुष को आसक्ति छोड़कर उसी प्रकार कर्म करना चाहिए। कर्म से असंगता का तात्पर्य कर्मविमुखता न हो कर्मविशेष के प्रति आसक्ति का अभाव है।

वैसे यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय, तो कर्मविशेष के प्रति आसक्ति भी उससे निकलनेवाले फल के प्रति आसक्ति का ही एक प्रच्छन्न रूप है, अतः

फलासक्ति का त्याग कहने से शास्त्रीय तौर पर कर्मासक्ति के त्याग का कथन भी हो जाता है, तथापि दोनों आसक्तियों के त्याग का अलग अलग कथन हमारे लिए विषय को अधिक स्पष्ट कर देता है। श्रीभगवान् भी अन्यत्र (१८।६ एवं १८।९) कर्मासक्ति और फलासक्ति दोनों का अलग अलग उल्लेख करते हैं और दोनों के त्याग का उपदेश देते हैं। यह असंगता योग यानी कर्मयोग का प्राण है और गीता का भी। तभी तो भगवान् कृष्ण बारम्बार इसे दुहराते हैं। यथा—'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः' (५।१०), 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये' (५।११), 'एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च' (१८।६), 'संगं त्यक्त्वा फलं चैव' (१८।९), आदि। वे स्थान स्थान पर अनासक्ति और अनासक्त पुरुष की प्रशंसा करते है। यथा—'असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः' (१८।४९), 'असक्तं तेषु कर्मसु' (९।९), 'असक्तः स विशिष्यते' (३।७), 'तस्माद् असक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर। असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः' (३।१९), आदि।

योगस्थ होने का दूसरा लक्षण बताया गया कि ऐसा पुरुष कर्म की सिद्धि अथवा असिद्धि दोनों ही अवस्थाओं में समान रहेगा, अर्थात् सफलता से न तो वह उद्वेलित होगा और न असफलता से उद्विग्न। दोनों ही अवस्थाओं में उसकी बुद्धि सन्तुलित बनी

रहेगी। जीवन में जैसे विफलता बुद्धि-विक्षेप पैदा करती है, वैसे ही सफलता भी। ये दोनों स्थितियाँ हमें बहिर्मुख बनाती हैं और इसलिए योग से दूर करती हैं। अतः उभय परिस्थितियों में अचांचल्य का, सम बने रहने का उपदेश दिया गया। इससे पूर्व भी (२।३८) श्रीकृष्ण कह चुके हैं--'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ'। अतः स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है कि यह पुनरुक्ति क्यों? व्याख्याकार पुनरुक्ति-दोष का परिहार यह कहकर करते हैं कि प्रथम प्रसंग सांख्य के उपदेश का है और प्रस्तुत प्रसंग योग के उपदेश का। वहाँ ज्ञानमार्गियों के लिए सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जय-पराजय आदि द्वन्द्वों में बुद्धि को सम रखने का उपदेश दिया गया है और यहाँ यही बात कर्मयोगियों के लिए कही गयी है। वहाँ युद्धरूपी कर्म के फलों में समान दृष्टि रखना बताया गया है और यहाँ सभी प्रकार के कर्मों के सन्दर्भ में सिद्धि और असिद्धि की दशा में बुद्धि के समत्व का उपदेश दिया गया है। तो, चाहे भिन्न भिन्न प्रसंगों के परिप्रेक्ष्य में इस उपदेश को देखें अथवा सामान्य और विशेष सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में, दोनों ही दृष्टियों से पुनरुक्ति-दोष नहीं ठहरता।

एक शंका और। पहले के श्लोक में तो कहा ही है कि फल की आशा का परित्याग करना चाहिए, तब इस श्लोक में फिर से सिद्धि और असिद्धि में

समान रहने की बात क्यों उठायी ? जब फल की इच्छा ही छोड़ दी, तब सिद्धि और असिद्धि का प्रश्न ही कहाँ रहा ? इसका उत्तर व्याख्याकार यों देते हैं कि प्रत्येक कर्म के जो स्वर्गादि फल बताये गये हैं, उन्हें छोड़कर कर्म करने का उपदेश पूर्व पद्य में दिया गया है। इन फलों को छोड़ देने पर भी कर्म का और एक फल एक दूसरे प्रकार से प्राप्त होता है और वह है चित्तशुद्धि या भगवत्कृपा के रूप में। तो, यहाँ इस दूसरे प्रकार के फल की सिद्धि-असिद्धि में भी समान भाव रखने की बात कही गयी। अर्थात्, यह भी विचार मत करो कि इतने दिन मुझे कर्म-योग में लगे हो गये, फिर भी मेरी चित्तशुद्धि कुछ हुई नहीं, या यह कि अभी भी भगवत्प्रसाद के कोई लक्षण मुझे दिखायी नहीं दे रहे हैं, इत्यादि। तुम तो केवल कर्तव्य समझकर कर्म करते जाओ और इस और कोई दृष्टि न दो कि कर्म का फल क्या हो रहा है। तुम्हारा समूचा ध्यान इसी में केन्द्रित रहे कि जो कर्तव्य-कर्म तुम कर रहे हो, वह पूरी निष्ठा और दक्षता के साथ सम्पन्न हो।

कर्म में आनन्द तब आता है, जब हम अतीत और भविष्य के विचारों में न खो अपने आपको वर्त-मान में रखते हैं। एक चित्रकार अपने कर्म में तब डूबता है, जब उसे अतीत की यादें नहीं सतातीं, जब भविष्य का सुनहला सपना उसे परेशान नहीं करता।

और तब वह अपनी श्रेष्ठतम कृति का निर्माण करता है। एक यंत्रवादक अपनी कला का सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन तब करता है, जब वह अतीत की स्मृतियाँ बिसारकर और भविष्य का ताना-वाना बुनना छोड़ वर्तमान में डूब जाता है। हमारे साथ मुश्किल यह है कि या तो हम अतीत की स्मृतियों में खोये रहते हैं, या फिर भविष्य का ताना-बाना बुनते रहते हैं। और अतीत और भविष्य दोनों हमें वर्तमान में डूबने नहीं देते। जैसे अतीत एक कल्पना है, क्योंकि वह बीत चुका, वैसे ही भविष्य भी एक कल्पना है, क्योंकि वह अनागत है। कर्म की सिद्धि और असिद्धि में हम समान तभी रह सकते हैं, जब वर्तमान में रहकर कर्म करें। और वर्तमान में हम तभी रह सकते हैं, जब फलासक्ति छोड़कर कर्म करें। बुद्धि के ऐसे समत्व भाव को यहाँ पर 'योग' कहकर पुकारा गया है।

प्रश्न उठता है कि ऐसे चित्रकार और यंत्रवादक, जो अपनी अपनी कला में पूरी तरह डूब जाते हैं, जिन्हें फलासक्ति नहीं सताती, जो केवल कला के लिए अपने अपने विशिष्ट कर्म में लगे रहते हैं, क्या 'योगी' कहलाने के अधिकारी हैं? इसका उत्तर यह है कि यदि ये कलाकार अपनी कला को ईश्वर की पूजा मानते हों तथा फलासक्ति के साथ साथ कर्मासक्ति को भी काटने की क्षमता रखते हों, तो अवश्य वे योगी हैं। फलासक्ति का त्याग हमारे कर्म को

अत्यन्त उत्कृष्ट और उदात्त तो कर देता है, पर उस कर्म को योग हम तभी कह सकते हैं, जब उसके प्रति भी आसक्ति का अभाव हो जाय। इसे यों भी कह सकते हैं कि फलासक्ति का त्याग भोक्तापन का त्याग है तथा कर्मासक्ति का त्याग कर्तापन का। हमें योग की उपलब्धि के लिए भोक्तापन और कर्तापन दोनों का त्याग करना पड़ता है। तभी बुद्धि यथार्थत: सम होती है, और बुद्धि की ऐसी समता ही 'योग' के रूप से निरूपित हुई है।

यह 'योग' शब्द गीता में स्वतंत्र रूप से यहीं पर पहली बार आया है। इससे पूर्व दूसरे अध्याय के ३९वें श्लोक में इसका संकेत अवश्य दिया गया है, जहाँ कहा गया है—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥

—'हे पार्थ, यह तुझे सांख्य सम्बन्धी बुद्धि बतलायी गयी, पर अब तू योग सम्बन्धी बुद्धि सुन, जिस बुद्धि से युक्त होकर तू कर्मबन्धन को काट लेगा।' किन्तु योग की स्पष्ट व्याख्या और उसका समुचित विवेचन विवेच्य श्लोक से प्रारम्भ होता है। ऊपर उद्धृत श्लोक में जिस 'योगे बुद्धि:' (योग सम्बन्धी बुद्धि) का उल्लेख हुआ है, वही 'बुद्धियोग' के नाम से अगले श्लोक में उल्लिखित होता है। इन सन्दर्भों का अध्ययन हमें इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि 'योग'

शब्द का उपयोग भगवान् श्रीकृष्ण ने 'कर्मयोग' के लिए किया है, भले ही विभिन्न व्याख्याकारों ने उसके विभिन्न अर्थ किये हैं। आचार्य शंकर प्रस्तुत श्लोक की प्रथम पंक्ति पर भाष्य करते हुए लिखते हैं-- 'योगस्थः सन् कुरु कर्माणि केवलम् ईश्वरार्थं, तत्र अपि ईश्वरो मे तुष्यतु इति संगं त्यक्त्वा'--"योग में स्थित होकर केवल ईश्वर के लिए कर्म कर। उसमें भी 'ईश्वर मुझ पर प्रसन्न हों' इस आशारूप आसक्ति को भी छोड़कर कर।"

योग अर्थात् कर्मयोग का ऐसा विवेचन सुनकर प्रश्न उठ सकता है कि यह जो कर्मयोग का आदर्श रखा गया, वह क्या व्यक्ति को यांत्रिक नहीं बना देता ? क्या वह जड़ मशीन के समान कर्म में लगे रहने की शिक्षा नहीं देता ? मशीन भी तो न कर्मासक्त होती है, न फलासक्त। उसमें भी न कर्तापन होता है, न भोक्तापन। वह सिद्धि और असिद्धि में समान होती है। उसमें न सिद्धि में हर्ष होता है, न असिद्धि में विषाद। तो, हमें क्या ऐसी ही एक मशीन बन जाना है ? उत्तर में कहा जा सकता है कि योग का समत्व जड़ता की स्थिति नहीं है। मशीन की स्थिति में जड़त्व है, पर समत्व में निरपेक्ष आनन्द भरा होता है, धन्यता होती है, तृप्ति का भाव होता है। ऊपर से देखने में जड़त्व और समत्व की स्थितियाँ समान मालूम होती हैं, पर दोनों में दो ध्रुवों का

अन्तर है। सच्चा योगी केवल प्रभु की प्रसन्नता के लिए कर्म करता है। वह यह नहीं इच्छा प्रकट करता कि प्रभु मुझ पर प्रसन्न हों, वह तो इतने से ही सन्तुष्ट होता है कि प्रभु प्रसन्न हुए, तुष्ट हुए। यही भगवत्-प्रीत्यर्थ कर्म करना है। इसी को गीता में 'योग', 'कर्म-योग' या 'बुद्धियोग' भी कहकर पुकारा गया है। अर्जुन को भगवान् कृष्ण इसी बुद्धि की शरण जाने का निर्देश देते हुए कहते हैं--

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

हि (चूँकि) धनंजय (हे धनंजय) बुद्धियोगात् (बुद्धि के इस समत्वरूप योग की अपेक्षा) कर्म (कर्म) दूरेण (अत्यन्त) अवरं (कनिष्ठ, निकृष्ट है) [तस्मात्] [इसलिए] बुद्धौ (बुद्धि में) शरणं (शरण) अन्विच्छ (ग्रहण करो) फलहेतवः (फल चाहनेवाले) कृपणाः (दीन, निकृष्ट होते हैं)।

"चूँकि हे धनंजय, बुद्धियोग की अपेक्षा कर्म बहुत ही छोटी श्रेणी का है, इसलिए तू इस बुद्धि की ही शरण जा। जो लोग केवल फल के उद्देश्य से कर्म करते हैं, वे दीन होते हैं।"

यहाँ पर भगवान् श्रीकृष्ण ने 'कर्म', 'बुद्धियोग' और 'बुद्धि' इन शब्दों का प्रयोग किया है। टीकाकारों ने इन शब्दों के भिन्न भिन्न अर्थ किये हैं, पर प्रस्तुत सन्दर्भ के अनुसार 'कर्म' का अर्थ 'सकाम कर्म' तथा 'बुद्धि' का अर्थ 'समत्व-वृत्ति' लिया जा सकता है। इसे गीता ने (२।४१) 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' भी कहकर पुकारा है, जिस पर हम विस्तार से चर्चा कर

चुके हैं। तो, बुद्धि का अर्थ समता का भाव, यानी योग का भाव, क्योंकि समता को ही योग कहा है। इसलिए 'बुद्धियोग' का अर्थ हुआ इस योग के भाव से युक्त होना, अर्थात् समत्वभाव से युक्त होना। इस बुद्धियोग की प्रस्तावना गीता पहले (२।३९) कर चुकी है, जहाँ पर कर्मयोग के प्रकरण के प्रारम्भ की भूमिका बाँधी गयी है। इस प्रकार शब्दों का अर्थ करने से श्लोक का मर्म अपने आप स्पष्ट हो जाता है। ४८वें श्लोक में योगस्थ होकर कर्म करने का उपदेश दिया और बताया कि आसक्ति का त्याग तथा सिद्धि-असिद्धि में समान रहना ही योग का लक्षण है। फिर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में बुद्धि की समता को योग कहकर पुकारा। अब यहाँ पर कहते हैं कि जो बुद्धि की इस समता से युक्त नहीं होता और फल पाने के उद्देश्य से कर्म करता है, उसका ऐसा कर्म बुद्धियोग की अपेक्षा बहुत ही निकृष्ट, छोटी श्रेणी का होता है। आचार्य शंकर कामनायुक्त कर्म को 'जन्म-मरणादि का हेतु' मानते हैं, जबकि बुद्धि को 'अभय-प्राप्ति का कारण'। श्रीभगवान् कहते हैं कि अर्जुन, तू बुद्धि का आश्रय ले, क्योंकि फल-प्राप्ति की आशा लेकर कर्म करनेवाले लोग दीन होते हैं।

यहाँ बुद्धियोग अथवा बुद्धि की कोरी प्रशंसा नहीं की गयी है। यह तो जीवन का सत्य है कि फल चाहनेवाला दीन हो जाता है। जो योग में स्थित होकर

कर्म नहीं करता, वह भोग की प्रेरणा से कर्म करता है। कर्म करने की केवल दो ही प्रेरणाएँ हो सकती हैं ––एक भोग की और दूसरी योग की। योग की प्रेरणा का फल क्या होता है, यह अगले दो श्लोकों में प्रदर्शित हुआ है कि कैसे बुद्धियुक्त पुरुष पाप-पुण्य से ऊपर उठकर जन्म-मरण के बन्धन को छिन्न कर डालता है और निर्भयरूप निर्दोष परमपद को प्राप्त कर लेता है। प्रस्तुत पद्य के अन्तिम चरण में यह बताते हैं कि भोग की प्रेरणा का फल क्या होता है। व्यक्ति 'कृपण' हो जाता है, दीन हो जाता है। ज्योंही व्यक्ति के मन में फल की आशा प्रविष्ट हुई कि उसकी वृत्ति याचक की-सी हो जाती है। बुद्धियोग में ––निष्काम कर्मयोग में निर्भयता है, निरपेक्षता है, परमुखापेक्षी भाव का अभाव है। कर्मभोग में––सकाम कर्म में असिद्धि का भय है, याचकता है, दूसरे का मुँह जोहना है, और यह आशा मनुष्य को निर्लज्ज बना देती है। 'कृपण' का एक अर्थ 'निर्लज्ज' भी किया जा सकता है। महाराज ययाति तृष्णा से इतने दीन हो गये थे कि वे अपने ही पुत्रों का यौवन माँगने में लज्जा का अनुभव नहीं करते। फल की यह लालसा, यह तृष्णा ही सारे अनर्थों की जड़ है। 'महाभारत' ने तृष्णा को 'प्राणान्तक रोग' कहकर पुकारा है। जो फलाशा को छोड़ सकता है, वही दीनता से ऊपर उठ सकता है। कहा भी गया है––

तृष्णां चेह परित्यज्य को दरिद्रः कः ईश्वरः।
तस्याश्चेत् प्रसरो दत्तो दास्यं तु शिरसि स्थितम् ॥

--'जिस पुरुष ने तृष्णा का त्याग कर दिया, उसकी दृष्टि में दरिद्र और बहुत बड़ा ऐश्वर्य रखनेवाला दोनों एक से ही हो जाते हैं। (उसे जब किसी से कुछ लेना नहीं, तब उसकी दृष्टि में दरिद्र और समर्थ में भेद ही क्या रहेगा ?) और यदि तृष्णा को तनिक भी मन में स्थान दिया जाय, तो दासभाव आकर सिर पर चढ़ जाता है।' (अर्थात् तृष्णावाला पुरुष सबके आगे दासभाव प्रदर्शित करने लगता है।)

इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण हमें उपदेश देते हैं कि कामनायुक्त कर्म तो अत्यन्त निकृष्ट है, वह हमें दीन और निर्लज्ज बना देता है; अतएव हम बुद्धि की, भाव की शरण जाएँ और समत्व-वृत्ति से युक्त हो, फलाशा का त्याग करते हुए कर्मों का सम्पादन करें। फलाशा-त्याग का फल यह होगा कि हम पुण्य और पाप दोनों के बन्धनों से मुक्त हो जाएँगे।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

बुद्धियुक्तः (समबुद्धियुक्त निष्काम कर्मयोगी) इह (इस लोक में) उभे (दोनों) सुकृतदुष्कृते (पुण्य और पाप को) जहाति (त्याग देता है) तस्मात् (अतएव) योगाय (योग के लिए) युज्यस्व (सन्नद्ध हो जाओ) योगः (योग) कर्मसु (कर्मों में) कौशलम् (कौशल है)।

"समबुद्धियुक्त निष्काम कर्मयोगी इस लोक में पुण्य

और पाप दोनों से अलिप्त रहता है। इसलिए तू इस योग का आश्रय ले। (पाप-पुण्य से बचकर) कर्म करने की कुशलता या युक्ति को ही योग कहते हैं।"

कर्म के दो प्रकार हैं--सुकृत यानी शुभ कर्म और दुष्कृत यानी अशुभ कर्म। शुभ कर्म का फल पुण्य होता है तथा अशुभ कर्म का फल पाप। समत्वबुद्धि से युक्त होकर कर्म करनेवाला योगी पुरुष सुकृत और दुष्कृत दोनों को छोड़ देता है। यहाँ पर सुकृत और दुष्कृत छोड़ने का तात्पर्य कर्म छोड़ देने में नहीं है, किन्तु उनका फल छोड़ देने में है। अभी तक जो प्रसंग चल रहा है, उसमें कहीं पर कर्म छोड़ने की बात नहीं आयी है, सब जगह फल के त्याग की ही बात कही गयी है। तो, यहाँ भी सुकृत और दुष्कृत के फलों का त्याग ही अपेक्षित है। यह तो मानी हुई बात है कि जिन्हें हम अशुभ, शास्त्रनिन्दित या समाजनिन्दित कर्म कहते हैं, वे त्याज्य हैं ही। यहाँ 'दुष्कृत' शब्द का प्रयोग इस प्रकार के अशुभ कर्मों के लिए नहीं हुआ है। यहाँ उसका तात्पर्य उस अशुभ या पाप से है, जो कर्तव्य-कर्म के पालन में अनायास उत्पन्न हुआ करता है। जैसे हत्या तो निन्दनीय कर्म है, उसका सर्वथा त्याग करना चाहिए; पर युद्ध में सैनिक जब शत्रु की हत्या करता है, तब वह कर्म त्याज्य नहीं, प्रशंसनीय हो जाता है। तथापि वध की क्रिया द्वारा सैनिक ने शत्रु को जो पीड़ा पहुँचायी, उसका हिंसारूप पाप तो

सैनिक को लगेगा ही। यहाँ 'दुष्कृत' का तात्पर्य ऐसे ही पाप से है। फिर, सैनिक जो युद्धरूप स्वधर्म करता है, अपने देश की सेवा करता है, उसका पुण्यरूप फल उसे प्राप्त होता है। विवेच्य श्लोक में 'सुकृत' का तात्पर्य ऐसे ही पुण्य से है। यहाँ पर सुकृत और दुष्कृत दोनों को ही छोड़ देने का उपदेश दिया गया है। दुष्कृत को छोड़ने की बात तो समझ में आती है, पर सुकृत को भी छोड़ने का क्या तात्पर्य? भगवान् कृष्ण का मन्तव्य यह है कि जैसे पाप बन्धनकारक है, वैसे ही पुण्य भी। पाप यदि लौह-शृंखला है, तो पुण्य स्वर्ण की जजीर है। जो सुकृत के फल से आकर्षित होकर कर्म करते हैं, वे भी कर्म में फँसते हैं और जो दुष्कृत के फल के डर से स्वभावगत कर्म छोड़ देते हैं, वे भी कर्म में फँसते हैं।

प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा है, तो भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पूर्व में फल का लालच क्यों दिया, क्यों कहा कि 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'?—'मारे जाओगे तो स्वर्ग प्राप्त करोगे ओर जीतोगे तो पृथ्वी का भोग करोगे'? यह सुकृत्य करने की प्रेरणा क्यों दी? इसका उत्तर यह है कि प्रारम्भ में मनुष्य कर्म का दर्शन नहीं समझ पाता, उसकी समझ में अध्यात्म की ये गूढ़ बातें नहीं आतीं। पर जैसे जैसे उसका मानसिक विकास होता है, वैसे वैसे उसमें गूढ़ ज्ञान के धारण की क्षमता आती जाती

है। अर्जुन के सन्दर्भ में भी यही होता है। जब वह दुष्कृत के डर से अपना स्वभावगत युद्धकर्म छोड़ना चाहता है, तो भगवान् श्रीकृष्ण सुकृत के पुण्य का लोभ दे उसे युद्ध में प्रवृत्त करते है। और जब उन्होंने देखा कि अर्जुन का मानसिक स्तर अध्यात्म की सूक्ष्मताओं के ग्रहण में सक्षम हो गया है, तब वे सुकृत का लोभ समेट लेते हैं, अर्जुन से कहते हैं कि 'तू सुकृत की ओर मत देख, केवल कर्तव्य-कर्म की भावना से प्रेरित हो, ईश्वर को प्रसन्न करने के निमित्त, समबुद्धि से युक्त हो, अपने सहज कर्म से ईश्वर की पूजा करने के उद्देश्य से युद्ध कर। इससे सुकृत तेरे लिए बन्धनकारक नहीं होगा।'

यहाँ 'बुद्धियुक्त' होने के लिए कहा। यह पिछले श्लोक में कहे गये 'बुद्धियोग' का ही पर्याय है। ऐसी समत्वबुद्धि से युक्त हो कर्म करने पर न तो उसका पुण्य-फल मनुष्य को बाँध पाता है, और न ही उसका आनुषंगिक पाप-फल। उदाहरणार्थ, मैं एक सैनिक हूँ। मेरा स्वधर्म, स्वभावगत या सहज कर्म युद्ध है। इस कर्म का जैसे शुभ फल स्वर्गादि-प्राप्ति के रूप में मिलता है, वैसे ही इसका आनुषंगिक फल हिंसारूप अशुभ है। प्रश्न उठ सकता है कि क्या इस हिंसा का पाप मुझे नहीं लगेगा? लगेगा अवश्य, पर मुझे अपने इस युद्ध-रूप कर्तव्य-कर्म का जो शुभ फल मिलेगा, वह इतना बड़ा होगा कि उसकी तुलना में उसका अशुभ फल नगण्य होगा। फिर भी यदि मैं इस पाप से अपनी

रक्षा करना चाहता हूँ, तो प्रायश्चित्त इसका श्रेष्ठ साधन है। भगवान् कहते हैं कि ऐ जीव, मैं तुझे इससे भी उत्तम साधन बतलाता हूँ, जिसके द्वारा तू पाप के बन्धन से तो मुक्त हो ही जायगा, साथ ही तू उस कर्म से उत्पन्न होनेवाले पुण्य के बन्धन से भी छूट जायगा। वह उपाय है बुद्धियोग यानी भगवत्समर्पित बुद्धि से कर्म करना।

इसी को भगवान् ने कर्मों में कौशल कहा, योग कहा। यह योग कर्म करने की कुशलता है। श्रीरामकृष्णदेव इसे समझाते हुए कहते हैं—जैसे कटहल काटने की कुशलता इसमें है कि उसका दूध हाथों में न चिपके, अथवा जैसे शहद के छत्ते से शहद निकालने की कुशलता इसमें है कि हमें मधुमक्खियाँ न काट खाएँ, वैसे ही कर्म करने की कुशलता इसमें है कि हमें वह बाँध न पाए। कर्म में स्वाभाविक रूप से बन्धन होता है। अतः हम कर्म ऐसा करें कि उसका बन्धन हमें लग न पाए। यही कर्मों में कौशल है और इसी को भगवान् 'योग' कहते हैं। काजल की कोठरी में जाकर बिना दाग के लौट आना जैसे कुशलता का द्योतक है, उसी प्रकार कर्म करते हुए भी उसके बन्धन से अछूते रहना एक बहुत बड़ी कुशलता है, जो योग से सधता है। इस योग को प्राप्त करने का निर्देश श्रीभगवान् देते हैं।

एक प्रश्न उठा। यहाँ 'योग' की दो परिभाषाएँ

दी गयीं। पहली में कहा कि योग बुद्धि का समत्व है और दूसरी में योग कर्मों में कौशल को बताया। क्या ये दोनों अलग अलग परिभाषाएँ नहीं हैं और क्या इनसे भ्रम पैदा नहीं होगा? नहीं। यद्यपि दोनों परिभाषाएँ भिन्न भिन्न प्रतीत होती हैं, पर वस्तुतः एक ही बात अलग अलग ढंग से कही गयी है। समत्व-बुद्धि ही कर्म करने का कौशल है और कर्मों में कौशल द्वन्द्वों में बुद्धि के सम रहने से ही प्राप्त होता है।

पूछा जा सकता है कि सुकृत और दुष्कृत से ऊपर उठने के लिए यह द्राविड़ी प्राणायाम क्यों किया जाय कि कर्म करो और बुद्धियोग का आश्रय लो? कर्म का ही क्यों न त्याग कर दे, जिससे सुकृत-दुष्कृत कुछ भी उत्पन्न नहीं होंगे? उत्तर में कहा जाता है कि कर्म तो मार्ग है, जिस पर से लक्ष्य तक पहुँचने के लिए चलना ही पड़ता है। यदि हम कर्म ही छोड़ दें, तो बीच में रुक जाएँगे और लक्ष्य पर कभी पहुंच नहीं सकेंगे। अतः पथ पर चलना अनिवार्य है। रास्ते की बाधाओं को दूर करने के लिए हमें योग का सहारा लेना पड़ता है, जिसकी चर्चा हमने अभी की। वह लक्ष्य क्या है, जहाँ हम पहुँचना चाहते हैं, इसका उत्तर श्रीभगवान् अगले श्लोक में देते है।